षड्दर्शन दर्पण ।

जिस में न्याय आदिक छः दर्शनों का विचार किया है ॥

काशी के एक पण्डित ने लिखा है ॥

HINDU PHILOSOPHY EXAMINED

BY A BENARES PANDIT.

TWO VOLUMES IN ONE.

Allahabad:
PUBLISHED BY THE NORTH INDIA TRACT SOCIETY
ALLAHABAD:
PRINTED AT THE ALLAHABAD MISSION PRESS.

1874.

2nd Edition. [*1,000 Copies.*

सूचीपत्र ।

१ प्रथम भाग ।

१ पहिला अध्याय ।

२ दूसरा अध्याय ।

३ तीसरा अध्याय ।

४ चौथा अध्याय ।

५ पांचवां अध्याय ।

२ दूसरा भाग ।

जिस में न्याय और वैशेषिक की परीक्षा है ॥

१ प्रथम अध्याय ।

२ दूसरा अध्याय ।

३ तीसरा अध्याय ।

४ चौथा अध्याय।

३ तीसरा भाग।

जिस में वेदान्त मत की परीक्षा है॥

१ प्रथम अध्याय।

२ दूसरा अध्याय।

३ तीसरा अध्याय।

४ चौथा अध्याय।

५ पांचवां अध्याय ।

६ छठवां अध्याय ।

७ सातवां अध्याय ।

८ आठवां अध्याय ।

आभाष ।

काशी के और हिन्दुस्तान के और स्थानों के विद्यावान महात्मा पण्डित लोगों की सेवा में इस दास की नम्रता पूर्वक यह प्रार्थना है कि मैं ने जो इस ग्रन्थ के लिखने में परिश्रम किये हैं उस में मेरे अभिप्राय को कृपा करके बूझ लेवें। यह तो सब मनुष्यों को और विशेष करके पण्डितों को अत्यंत उचित है कि सब बातों में और निज करके उन बातों में जो हमारे आत्मीय कल्याण से संबंध रखती हैं सत और असत का विवेक करें। और इस विषय में पक्षपात अथवा आलस्य करना तो अत्यंत अयोग्य है। मेरी समझ में जो कोई ऐसे विषय में पक्षपात और आलस्य करता है वह और बातों में कितना भी बुद्धिमान और चतुर क्यों न हो तथापि इतनी बात में तो वह अत्यंत अविवेकी और साहसी कहलाने के योग्य है। इन षड्दर्शनों का इस देश में बड़ा मान है और वे मानों यहां के मत के खंभे हैं। इस लिये ऐसा कौन आत्महितार्थी है जो

ऐसे भारी विषयों का विचार न करे। इस लिये मैं ने अपनी शक्ति भर उन का विचार किया। और जैसा कुछ उन के विषय में मुझ को बोध हुआ वैसा मैं ने औरों को भी सूचना करने के लिये इस ग्रंथ में लिख दिया। पर हे महाशय जी यद्यपि मेरी बुद्धि अत्यंत परिमित है तथापि जितनी बातों की चर्चा इस ग्रंथ में किई है उतनों को मैं ने अपनी शक्ति भर अच्छे प्रकार से बूझ लिया है और तब उन को यहां लिखने का साहस किया है। तिस पर भी जिन बातों को इस ग्रंथ में लिखा है उन में यदि मैं ने भूल किई हो तो आप उस को कृपा करके बता देवें तो मैं तत्काल उस का स्वीकार करूंगा। क्योंकि इतना आप लोग निश्चय करिये कि मैं ने इस ग्रंथ को मन की कुटिलता से नहीं लिखा और न मुझ को इस बात में कुछ आनन्द है कि शास्त्र कारों की भर्त्सना किई जाए। क्योंकि प्रभु जिस के शरण में मैं आया हूं उस की यह एक बड़ी आज्ञा है कि सभों को प्रतिष्ठा देना सभों का भला चाहना और दूसरों की तो क्या बात पर अपने बैरियों के विषय में भी कुटिलता और कपट की बुद्धि न रखना। पर मैं ने जो कुछ इस ग्रंथ में लिखा है सो केवल इस बात पर दृष्टि करके लिखा है कि

सत्य का प्रकाश होवे और असत्य का त्याग किया जावे । सो इस उत्तम और महा प्रयोजन के प्राप्त करने के लिये यदि किसी के विषय में कुछ भला बुरा कहना पड़े तो केवल निरुपाय होके ऐसा करना पड़ता है । क्या अच्छी बात होती यदि इस जिह्वा को दूसरों के दोषरूपी कांटों पर चलना न पड़ता और वादविवाद रूप संतप्त भूमि पर पांव धरना न पड़ता । पर सब के सब ईश्वर के सत्य मार्ग के विषय एक मत होके परस्पर प्रीतिरूप अमृत फल के रस को छोड़ और कुछ न जानते । पर क्या कहिये अभी इस जगत की ऐसी स्थित नहीं है । वरन जगत की दशा एक रोगी मनुष्य के समान है । कि उस के भावि आरोग्य पर दृष्टि करके उस को कई कड़ुवी २ दवा पिलाना और उस के शरीर में कई जगह चीर फाड़ करना आवश्यक होता है । और कोई इस काम को क्रूरता समझके उससे अलग न रहे वरन ऐसा काम न करना ही बड़ी क्रूरता और ईश्वर के साम्हने अपराध ठहरेगा । इस लिये मैं इस आशा का अवलंब करता हूं कि जो सच्चे विद्यावान विवेकी और सुस्वभाव लोग हैं सो मेरे इस ग्रंथ को देखके कुछ बुरा न मानेंगे वरन पक्षपात और ईर्षा को छोड़के इस को देखेंगे और मेरी मति के अनुसार

जहां कहीं दर्शन कारों की बातें मुझ को अत्यंत बाधित सी जान पड़ी हैं तहां मैं ने यदि कोई कड़ा बचन कहा हो तो मेरे शुभ अभिप्राय को जानके क्षमा करेंगे ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ताश्रोता च दुर्लभः ॥ १ ॥

यह रामायण का श्लोक है जिस के भावार्थ को हम उन के लिये जो संस्कृत को नहीं जानते लिखते हैं कि हे राजा सदा मीठी २ बातों के कहनेवाले मनुष्य बहुत मिल सकते हैं पर जो बात ऐसी है कि सुन्ने में तो कड़वी पर हित करनेवाली है वैसी बात का कहनेवाला भी दुर्लभ है और सुन्नेवाला भी दुर्लभ है ॥

षड्दर्शन दर्पण।

१ प्रथम भाग।

१ पहिला अध्याय।

जिस में दर्शनों की परीक्षा के फल और थोड़ा सा दर्शनों का वर्णन और इस ग्रंथ के लिखने का क्रम कहा है।

हम इस ग्रन्थ में हिन्दुओं के षड्दर्शनों का संक्षेप में विचार करने चाहते हैं। यद्यपि हिन्दुओं के धर्म के मूल प्रमाण वेद स्मृति पुराणादिक ग्रन्थ हैं और दर्शन उन के धर्म के मूल प्रमाण नहीं हैं क्योंकि उन में केवल तर्कांश है और वे सब वेदादिकों को धर्म का प्रमाण मानते हैं परन्तु अपने वचनों को धर्म के विषय में वेदादि के समान प्रमाण करके नहीं बताते इस लिये हिन्दु धर्म की परीक्षा करने में दर्शनों का विचार करना कुछ आवश्यक नहीं तथापि दर्शनों के विचार करने में ये लाभ हैं॥

पहिले यह कि हिन्दु लोग षड्दर्शनों को ऐसा नहीं समझते कि वे साधारण मनुष्यों के लिखे हुए हैं। पर उन को ऋषियों के लिखे समझते हैं। इस

लिये उन का पद तो स्मृति पुराणादि के बराबर ठहरा क्योंकि वे भी उन्हीं के समान ऋषियों के बनाये कहलाते हैं। इस लिये यदि विचार करने से दर्शनों में भूल स्थापित हो तो स्मृत्यादिकों के भी प्रमाणत्व पर शंका आती है। क्योंकि जब यह सिद्ध हुआ कि ऋषि लोग भी भूलते हैं और जिन ग्रन्थों में वे जगत को तत्वज्ञान और निस्तार का उपाय सिखाने के लिये प्रतिज्ञा करते उन्हीं में बड़ी भूल प्रगट करते हैं तो किसी वचन को ऋषियों का वचन होने के कारण से कौन भरोसा के योग्य समझेगा॥

दूसरा लाभ यह है कि यद्यपि हिन्दुओं में साधारण लोग दर्शनों के सिद्धान्तों को कुछ नहीं समझते तथापि पण्डितों की दृष्टि में उन का बड़ा पद है। दर्शनों में जो कुछ ईश्वर और जीव जगत और उस की उत्पत्ति बन्ध और मोक्ष आदि के विषय में सिद्धान्त हैं सो ही मानों उन की दृष्टि में हिन्दु मत का मूल और सार हैं और स्मृति पुराणादिकों की जो कथा कहानी और क्रिया कर्म हैं सो केवल मानों उस की शाखा हैं। और दर्शनों ही के सिद्धान्त पण्डित लोगों की समझ में ऐसे उत्तम और युक्ति से भरे हुए हैं कि वे उन को बड़ी प्रीति से पकड़ रहे

हैं और इसी प्रीति की रस्सी ने उन को हिन्दु धर्म के साथ बांध रक्खा है इस लिये हम जानते हैं कि ऐसे स्वशास्त्रवेत्ता सच्चे पण्डितों की दृष्टि में सरल विचार के करने से और परमेश्वर की कृपा से जो एक वार दर्शनों के सिद्धान्तों के दोष प्रगट हो जायें तो उन के लिये हिन्दु धर्म में कुछ भी रस न रहेगा ॥

तीसरा लाभ यह है । इस में कुछ सन्देह नहीं कि दर्शनकर्त्ता लोग बड़े बुद्धिमान और विद्यावान और सूक्ष्म विचार करनेवाले थे । तो उन्हों ने अपनी बुद्धि को अपनी शक्ति के समान दौड़ाके जो तर्क किये हैं जब उन में भी बड़ी २ भूल दृष्टि पड़ती हैं तो इस्से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि से परमेश्वर का सत्य ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । और तब जिस शास्त्र में परमेश्वर और उस के सत्य मार्ग का शुद्ध वर्णन हो उस शास्त्र का ईश्वर की ओर से होना निश्चित होता है ॥

हम चाहते हैं कि परमेश्वर तुम पर कृपा करे और तुम पक्षपात को छोड़के और अपने आत्मा के उद्धार के लिये सत्य मार्ग के प्राप्त करने की इच्छा से जो बातें हम कहेंगे उन को विचारो ॥

षड्दर्शनों के नाम ये हैं। न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा वेदान्त। इन को षट्शास्त्र भी कहते हैं। सांख्य और योग का मत और सब बातों में समान ही है केवल इस एक बात में उन का मत भेद है कि सांख्य मत ईश्वर को नहीं मानता और योग मत ईश्वर को मानता है। इस लिये हिन्दुओं के पुस्तकों में कहीं २ सांख्य को निरीश्वर सांख्य और योग को सेश्वर सांख्य भी कहा है। और बहुत स्थलों में मीमांसा को पूर्व मीमांसा और वेदान्त को उत्तर मीमांसा कहते हैं। इन दोनों दर्शनों को मीमांसा कहने का कारण यह है कि वे दोनों निज करके वेदही के वचनों का बिचार करते हैं। पूर्व मीमांसा में वेद के उस भाग का बिचार है जिस में कर्मकाण्ड है और उत्तर मीमांसा में वेद के उस भाग का विचार है जिस में ज्ञानकाण्ड है। यह भाग वेद के अन्त में है इस लिये इस भाग को वेदान्त कहते हैं। इन षड्दर्शनों के मत पर सहस्रों ग्रंथकर्त्ता हुए हैं। कितने उन में से बहुत ही प्राचीन हैं और कितने नवीन हैं। परन्तु इन सब ग्रंथों में से वे ग्रंथ जिन को सूत्र कहते हैं और जो इन दिनों के और सब ग्रंथों के मूल कहलाते हैं उन के कर्त्ताओं को हिन्दु लोग ऋषि समझते हैं

और वे इन नामों से प्रसिद्ध हैं । न्याय का कर्त्ता गौतम उस को अक्षपाद भी कहते हैं वैशेषिक का कर्त्ता कणाद सांख्य का कर्त्ता कपिल योग का पतञ्जलि मीमांसा का जैमिनि वेदान्त का व्यास कहलाता है ॥

अब इन छः दर्शनों के विचार का क्रम हम ने इस प्रकार से ठहराया है । पहिले हम उन सिद्धान्तों को दिखावेंगे जो प्रायः सब दर्शनों में समान हैं । उस के अनन्तर वेदान्त को छोड़ और दर्शनों के जो भिन्न २ सिद्धान्त हैं उन में से उन सिद्धान्तों को जो विशेष करके विचारने के योग्य हैं दिखावेंगे । पर वेदान्त दर्शन के निज सिद्धान्तों का वर्णन और उन की परीक्षा हम इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में करेंगे । सो अवशिष्ट पांच दर्शनों के निज सिद्धान्तों का वर्णन जो हम करने चाहते हैं सो इस रीति से होगा । हम ने ऊपर कहा कि सांख्य और योग के मत केवल एक बात को छोड़ और सब बातों में समान हैं इस लिये यहां उन दोनों के सिद्धान्त भी एक ही साथ दिखावेंगे । उस के अनन्तर मीमांसा की एक दो बातें जो विचारने के योग्य हैं उन की चर्चा करेंगे । फिर न्याय और वैशेषिक इन दो मतों में बड़ा मेल है । पंडित लोग समझते हैं कि उन में

से जो एक में बातें हैं सो दूसरे को अनिष्ट नहीं हैं वरन वे मानों एक दूसरे के पूरक हैं । यहां लों कि इन दिनों में पण्डित लोग जो न्याय के ग्रन्थ लिखते हैं उन्हीं में वैशेषिक मत की बातों को भी मिलाकर लिखते हैं और जिन बातों में उन दो मतों में मत-भेद है उन को हम इस ग्रन्थ में चर्चा करने के योग्य नहीं समझते । इस लिये हम इस ग्रन्थ में न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों की चर्चा एकही समय करेंगे । तब उन सभों की परीक्षा जो हम को करनी है उस में यह रीति ठहराई है ॥

छः दर्शनों के तो बड़े २ ग्रन्थ हैं और उन में अनेक बातों का वर्णन है पर हम उन में की प्रत्येक बात का तो विचार नहीं करने चाहते हैं हम को केवल उन में की मुख्य २ बातों का विचार करना है । अब ऐसी मुख्य बातों में से बहुतेरी बातों में उन सभों के मत समान हैं यद्यपि कई एक भारी बातों में वे एक दूसरे से अत्यन्त विरुद्ध हैं । इस लिये उन में से यदि एक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का भी पूरा विचार किया जाय तो उसी से बहुत सी बातों में इतर सब दर्शनों का भी विचार हो जाता है । अब इन छः दर्शनों में से हम को तो न्याय और वैशेषिक का मत अधिक सयुक्तिक देख पड़ता है । पहिले तो

वह मत एक अनादि अनन्त सर्वशक्तिमान् ईश्वर को मानता है इस लिये वह सांख्य और मीमांसा से जो ईश्वर को नहीं मानते और वेदान्त से भी जो जीव ईश्वर को एक ही समझता है उत्तम है और इस को छोड़ और कई बातों में भी इतर दर्शनों से अच्छा है। इस लिये हम न्याय और वैशेषिक के मत ही को हाथ में लेके उसी के सब मुख्य सिद्धान्तों का पूरा विचार करेंगे। पर उस्से पहिले सांख्य और मीमांसा के उन दो चार निज सिद्धान्तों का जो विचार करने के योग्य हैं कुछ विचार करेंगे। और योग के निज सिद्धान्तों का विचार सांख्य ही के विचार में आ जायगा और वेदान्त की निज बातों का तो अन्त में विचार किया जायगा ॥

एक बात इस में समझनी चाहिये कि न्याय और वैशेषिक का जो मत हम ने इस ग्रन्थ में दिखाया है और जिस को दूसरे दर्शनों से उत्तम समझते हैं सो मत केवल उन के मूलसूत्रों से नहीं निकलता परन्तु सूत्रों के पीछे से उन मतों के जो प्राचीन और नवीन ग्रन्थकर्त्ता हुए हैं उन के कहे के अनुसार जो न्याय और वैशेषिक का मत ठहरता है उसी को हम ने यहां लिया है। क्योंकि हम को जान

पड़ता है कि उन के मूलसूत्रों और उन के पीछे के ग्रन्थों में बड़ा अन्तर है। क्योंकि इन ग्रन्थों में तो ईश्वर की वहुत सी चर्चा देख पड़ती है और उस के स्थापित करने के लिये वहुत सा तर्क लिखा रहता है। वरन इन दिनों यह वात प्रसिद्ध है कि निज करके ईश्वर ही के सिद्ध करने में इन शास्त्रों का तात्पर्य है। परन्तु बड़े आश्चर्य का विषय है कि यह वात उन के मूलसूत्रों में नहीं देख पड़ती। न्याय सूत्र में तो एक सूत्र को छोड़ कहीं ईश्वर का नाम भी नहीं लिया। और जिस सूत्र में ईश्वर का नाम लिया भी है सो तो ऐसा जान पड़ता है कि ईश्वर के स्थापन करने के लिये नहीं वरन मानो खण्डन करने के लिये है। यद्यपि उस के टीकाकार उस सूत्र का अर्थ और प्रकार से लगाते हैं। वैसे ही वैशेषिक सूत्र में भी कहीं ईश्वर का नाम नहीं देख पड़ता कहीं एकाध सूत्र में उस ऐसा सर्वनाम पद आया है जिस के विषय में टीकाकार ऐसा समझते हैं कि वह ईश्वर के विषय में है। पर हम इस ग्रन्थ में पण्डितों से इस विषय में विवाद करने नहीं चाहते इस लिये जैसा कुछ न्याय और वैशेषिक का मत इन दिनों में प्रसिद्ध है उसी को लेके हम विचार करेंगे॥

२ दूसरा अध्याय ।

जिस में सब दर्शनों के समान सिद्धान्तों का और वेदान्त को छोड़ और पांच दर्शनों के निज सिद्धान्तों का वर्णन है ।

अब पहिले जिन २ बातों में प्रायः सब दर्शनों का एक मत है उन का वर्णन करते हैं ॥

दर्शनों का विचार करने से यह जान पड़ता है कि मीमांसा को छोड़ सभों के लिखने का प्रयोजन निःश्रेयस का उपाय बताना है ॥

फिर उन सभों के मत से अज्ञान ही बंध का मुख्य कारण है । और वह अज्ञान यही है कि आत्मा यद्यपि मन इन्द्रिय शरीर से भिन्न है तथापि अपने को उन के साथ एक करके समझता है । दर्शनकार यह समझते हैं कि जैसे शरीर और इन्द्रिय तैसे मन भी आत्मा से भिन्न पदार्थ है । सो वे कहते हैं कि इसी अज्ञान से उस को राग द्वेष उत्पन्न होते हैं । क्योंकि जब आत्मा अपने को शरीरादिकों के साथ एक करके समझता है तभी वह इस संसार में फंसता है । और कितनों को अपना और कितनों को पराया समझता है और शरीरादिकों के द्वारा से कितने पदार्थ उस को सुखदायी और कितने दुःखदायी होते हैं । इस लिये सुखदायी पदार्थों पर उस को

राग और दुःखदायी पदार्थों पर द्वेष उत्पन्न होता है। और इन्हीं राग द्वेष के कारण से वह अनेक भले और बुरे काम के करने में प्रवृत्त होता है जिस से उस को पाप और पुण्य होते हैं। तब उन के भले और बुरे फल भोगने के लिये स्वर्ग और नरक में जाना पड़ता और बार २ जन्म और मरणरूपी इस संसार चक्र में भ्रमना पड़ता है। आत्मा को शरीरादिकों के साथ एक करके समझना यही तो मुख्य अज्ञान है जो जीव को बंधन में डालता है पर और भी कई प्रकार के अज्ञान हैं जो इसी अज्ञान से निकलते हैं और बंध के कारण होते हैं जैसे इस संसार के तुच्छ विषयों को महा सुखदायी जानना इत्यादि ॥

वे जैसे पाप कर्म तैसे पुण्य कर्म को भी बंध का कारण समझते हैं। क्योंकि पाप कर्म का फल तो दुःखही है परन्तु पुण्य कर्म का फल यद्यपि सुख है तथापि पुण्य कर्म इस लिये बंध का कारण कहलाता है कि वह जीव को मुक्त होने से रोकता है। क्योंकि शास्त्रकारों की समझ में मुक्ति तो वही कहलाती है जिस में जीव शरीर मन और ज्ञान इच्छादिकों से रहित हो जाये। परन्तु पुण्य कर्म अपने सुखरूपी फल भोगावने के लिये जीव को बरबस देव मनुष्यादिकों

का शरीर धारण करावेगा जब लों कि उस का भोग न हो चुके। क्योंकि जो कोई शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है उस का फल उस को भोगना आवश्यक है। और पुण्य का जो वह सुखरूपी फल है सो कुछ ऐसा उत्तम नहीं है। क्योंकि वह विनाशवान् है और अनेक दुःखों से मिश्रित है इस लिये वह भी दुखरूपी है। जैसा स्वर्ग में जाना और इस संसार में अच्छे कुल में उत्पन्न होना धन प्राप्त करना इत्यादि पुण्य कर्म के फल हैं। परन्तु जब लों उस पुण्य कर्म के फल का भोग पूरा नहीं हुआ तभी लों ये सब सुखकारक पदार्थ रहते हैं पर उस का भोग पूरा होने पर नष्ट होते हैं। तब उन के वियोग में भी दुःखही होता है। और जब लों अज्ञान जीव में है तब लों उस में राग द्वेष बने रहेंगे तब लों फिर २ पाप पुण्य करना और जन्म मरण के चक्र में भ्रमना उस से नहीं छूटता। पर यदि कोई कहे कि यदि धर्म भी बंध का कारण है तो मैं धर्म का कर्म ही न करूंगा जिसतें उस बंधन से बचा रहूं तो नहीं बन्ने का। क्योंकि जब लों जीव अज्ञान दशा में है तब लों यदि वह धर्म का काम न करे तो अधर्मी हो जायगा। पर धर्म और अधर्म इन दोनों के बंधन के छूटने का उपाय केवल ज्ञान ही है॥

इस लिये वे कहते हैं कि केवल ज्ञान के प्राप्त करने ही से इस संसार चक्र से छुटकारा हो सक्ता है। वह ज्ञान यही है कि आत्मा अपने को जाने कि मैं मन इन्द्रिय और शरीर से भिन्न हूं। यह तो मुख्य ज्ञान है पर इस के सिवाय और भी कई प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये जैसा कि इह लोक और परलोक के सुखों को तुच्छ समझना इत्यादि। इस ज्ञान के प्राप्त करने के लिये शास्त्र को पढ़ना। फिर इस के लिये बुद्धि की शुद्धि भी आवश्यक है इस लिये वे कहते हैं कि यज्ञ दान तीर्थयात्रा जप तप आदिक पुण्य कर्मों को करना। उन के करने से मन की शुद्धि होती है जो ज्ञान की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उपयोगी है। सो शास्त्र और गुरु के उपदेश से उस ज्ञान को प्राप्त करके कुछ काल लों उसी बात का श्रवण मनन निदिध्यासन करते रहना जिस से आत्मा का साक्षात्कार होता है। उस से राग द्वेष दूर होते हैं। क्योंकि यद्यपि इस पूर्ण ज्ञान के होने पर भी जब लों जीव शरीर में है तब लों शरीर के द्वारा से बाह्य विषयों के सम्बन्ध से कुछ २ राग द्वेष ऊपर २ से उत्पन्न होते हैं तथापि उन का बल घट जाता है। और शरीर छूटने के अनन्तर सर्वथा दूर होता है। और ज्ञानी पुरुष जब लों

शरीर में है तब लों कुछ २ कर्म भी करता है तथापि उस करके उस को पाप अथवा पुण्य का लेप नहीं हो सक्ता। इस लिये उन का फल भोगने के लिये स्वर्ग नरक और पुनर्जन्म उस को नहीं होते। और उसी ज्ञान में यह भी प्रभाव है कि उस के प्राप्त करने के पहिले जो २ उस जीव ने भले अथवा बुरे कर्म किये हैं वे सब एक प्रारब्ध कर्म को छोड़ दग्ध होते हैं। क्योंकि तीन प्रकार के कर्म हैं एक संचित और दूसरा क्रियमाण और तीसरा प्रारब्ध। संचित कर्म वह है जो पूर्व जन्म में किया है और जिस ने अब लों अपना फल उत्पन्न नहीं किया वह तो ज्ञान के होते ही दग्ध हो जाता है। क्रियमाण वह है जो वर्तमान जन्म में किया जाता है पर वह ज्ञानी को लिप्त नहीं कर सक्ता। प्रारब्ध वह है जो पूर्व जन्म में किया है और जिस से वर्त्तमान जन्म का शरीर उत्पन्न हुआ है। ये तीन कर्म मानों तीन प्रकार के बीजों के समान हैं। वह कर्मरूपी बीज जो ज्ञानी किसान के खत्ते में भरा है वह मानो संचित है वह तो ज्ञान से जल जाता है। फिर वह कर्मरूपी बीज जो ज्ञानी किसान बो रहा है वह क्रियमाण है वह तो मानों उस के हाथ के स्पर्श से दग्ध सा हो रहा है कि उस से कुछ फल नहीं होगा। फिर वह बीज

जो उस ने पहिले ही बोया था और जो फल ला चुका है वह प्रारब्ध है। सो यह प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता। इसी कर्म के भोगने के लिये ज्ञानी को शरीर में रहना पड़ता है और अनेक सुख दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु जब इस प्रारब्ध कर्म को भोग चुका तब शरीर छूट जाता है और फिर उस को जन्म नहीं होता। क्योंकि अब उस के पास कोई कर्म नहीं है और जन्म तो केवल पूर्वकृत कर्म के भोगनेही के लिये होता है। सो ज्ञानी पुरुष मरने के अनन्तर न केवल शरीर से वरन मन और ज्ञान और सब बातों के भान से रहित होके पाषाण के समान हो रहता है और सदा के लिये इस संसार के दुःख से छुटकारा पाता है। यही दर्शनकारों का निःश्रेयस और परम पुरुषार्थ है। इस से प्रगट है कि उन मतों के समान केवल दुःख से छूटना यही निःश्रेयस है पर उस में कुछ आनन्द की प्राप्ति नहीं॥

फिर सब दर्शनकर्त्ता जीव को अनादि और अविनाशी मानते हैं कि जीव की कभी उत्पत्ति नहीं भई और उस का बनानेवाला कोई नहीं परन्तु वह आप से आप सदा काल से बना है और सदा लों बना रहेगा॥

फिर सब दर्शनकार जीव को वार २ जन्म मानते हैं । और उन के मत के समान इस प्रकार से मरना और जनमना अनादि काल से होता आया है और मनुष्य का जीव पशु के शरीर को धारण करने से पशु और पशु का जीव मनुष्य के शरीर को ग्रहण करने से मनुष्य होता है । वरन यह जीव देवता लों ऊपर चढ़ सक्ता और वृक्षादिक लों नीचे उतर सक्ता है ॥

सब दर्शनों के समान जो कुछ कार्य होता है सो जीवों के पाप पुण्यरूपी कर्मों के कारण से होता है। और वह कार्य कैसा भी लघु और तुच्छ क्यों न हो तथापि वह भी इसी नियम के अधीन है। यद्यपि एक छोटा परमाणु अन्तरिक्ष के एक प्रदेश से उड़के केवल चार अंगुल के अन्तर में भी चला जाता है और जब हमारी दृष्टि में उस से किसी को लाभ अथवा हानि न होवे तथापि उस से भी साक्षात् अथवा परम्परा से किसी न किसी जीव को भला अथवा बुरा अल्प अथवा महत् फल अवश्य होगा । इस लिये वह कार्य भी जीवों के कर्म के अनुसार ही हुआ है ऐसा मान्ना चाहिये ॥

फिर सब दर्शनकार समस्त जगत् सृष्टि को किसी न किसी उपादान कारण से मानते हैं । जिस द्रव्य

से कार्य निकलता है वह द्रव्य उस कार्य का उपादान कारण कहलाता है। जैसे मृत्तिका घटकी और सुवर्ण अलंकार का उपादान कारण है। और इसी कारण से जो कुछ सारे कार्यों का आदि उपादान है उस को दर्शनकर्त्ता अनादि मानते हैं॥

सो जब जीव अनादि ठहरे और जगत का आदि उपादान कारण भी अनादि माना गया और जीवों का जन्म लेना और मरना और पाप पुण्य करना और उन के कर्म का फल प्राप्त करने के लिये जगत की नाना वस्तुओं का बन्ना और बिगड़ना भी अनादि काल से ठहरे तो यह बात स्पष्ट है कि दर्शनकर्त्ता समस्त सृष्टि को अनादि काल से मानते हैं। यह तो है कि इस में कई बार इस दृश्य जगत का प्रलय और उत्पत्ति होती रहती है और प्रलय में यह स्थूल जगत अपने सूक्ष्म उपादान कारण में लीन होता है। पर इस प्रकार से सदा प्रलय और उत्पत्ति होते हुए सृष्टि की धारा अनादि काल से होती आई है॥

फिर सब दर्शनकार वेद के वचन को अशङ्कनीय प्रमाण मानते हैं। और वेद से अविरुद्ध धर्मशास्त्र और पुराण आदिक जो ऋषियों के बनाये हुए पुस्तक कहलाते हैं उन को भी प्रमाण समझते हैं। ये सब

दर्शनों के मुख्य २ सिद्धान्त हैं जिन में प्रायः सभों का एक मत है ॥

जो सिद्धान्त सब दर्शनों में आपुस में समान हैं उन का विचार करना अति लाभदायक है क्योंकि उस के जान्ने से यह देख पड़ता है कि भारतवर्ष के पण्डितों की वुद्धि की झुकाहट वहुधा किधर को है और उस की दौड़ कहां तक है ॥

अब जो भिन्न २ दर्शनों के भिन्न २ सिद्धान्त हैं उन में जो मुख्य २ हैं उन का वर्णन यह है ॥

सांख्य और योग के सिद्धान्त ये हैं। वे प्रकृति और पुरुष इन दो पदार्थों को मानते हैं। जीवों को पुरुष कहते हैं और उन को अनादि अनन्त और अनेक समझते हैं। प्रकृति जड़ पदार्थ है जो जगत का उपादान कारण है। सत्व रज और तम ये तीन पदार्थ जिस दशा में समान रहते हैं उसी दशा को प्रकृति कहते हैं। इस में एक बात जान्ना चाहिये कि जैसे लोगों में सत्व रज तम केवल आत्मा के गुण अथवा दशाविशेष समझे जाते हैं वैसा सांख्य वाले नहीं समझते पर वे उन को जड़ द्रव्यरूप मानते हैं नहीं तो वे जगत का उपादान कारण कैसे हो सक्ते। और यद्यपि वे भी उन को गुण करके कहते हैं पर वे और ही अर्थ पर वैसा कहते

हैं। अब अनादि जीवों के शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार उन के फल भोगने के लिये प्रकृति से कार्य उत्पन्न होते हैं। प्रकृति से महत्तत्व अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है बुद्धि से अहंकार। ये भी जड़ द्रव्यही हैं। अहंकार से ग्यारह इन्द्रिय और पंच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। ये पंच तन्मात्र पृथिव्यादिक स्थूल भूतों के सूक्ष्मरूप हैं। उन के एक दूसरे के साथ मिलाये जाने से उन से पृथिव्यादिक स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। बुद्धि अहंकार और मन इन तीनों को मिलाके अन्तःकरण कहते हैं। मन उन ग्यारह इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय है जो अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। निश्चय करना बुद्धि का धर्म है मैं ऐसा जो प्रत्यय होता है सो अहंकार का धर्म है और संकल्प करना मन का काम है। फिर वे कहते हैं कि पुरुष जो है अर्थात् जीव सो केवल ज्ञानस्वरूप है और इच्छा प्रयत्न सुख दुःख आदिक केवल अन्तःकरण के धर्म हैं। पर यद्यपि वे पुरुष को ज्ञानस्वरूप मानते हैं तथापि उस की ज्ञानस्वरूपता केवल नाम मात्र की है क्योंकि वह ज्ञान ऐसा नहीं है जिस को हम सब ज्ञान कहते हैं। क्योंकि हम लोग तो पदार्थों के जान्ने को ज्ञान कहते हैं जैसे कि यह जान्ना कि यह घट है यह पट है यह पृथिवी है यह जल है इत्यादि। पर

सांख्य के मत से यह ज्ञान आत्मा का रूप नहीं है न यह उस का गुण है परन्तु वह अन्तःकरण ही का एक परिणाम है। वे कहते हैं कि जब हम घट पट आदि को जानते हैं तो हमारा अन्तःकरण घट पट आदि पदार्थ के आकार के समान बन जाता है यही परिणाम है और उसी को ज्ञान और वृत्ति कहते हैं। सो यह घट है यह पट है ऐसा जो जान्ना है सो यही अन्तःकरण की वृत्ति है। अब अनादि काल से अन्तःकरण और पुरुष की समीपता से पुरुष का अन्तःकरण में और अन्तःकरण का पुरुष में प्रतिबिंब हो रहा है। इसी लिये घटाकार पटाकारादि जो अन्तःकरण की वृत्ति हैं उन का पुरुष में प्रतिबिंब होता है। सो इस प्रकार से जान्ने की वृत्ति का पुरुष में प्रतिबिंब होना यही पुरुष का जान्ना है। सो सांख्य के मत से चाहो अन्तःकरण की वृत्ति को जान्ना कहो चाहो उस वृत्ति के पुरुष में के प्रतिबिंब को जान्ना कहो दोनों प्रकार से उन के मत के अनुसार जान्ना पुरुष में नहीं है अर्थात् वह उस के निज स्वरूप में नहीं है। इसी प्रकार से इच्छा कर्त्तृत्व आदिक भी अन्तःकरण ही की वृत्ति हैं और उन का भी पुरुष में प्रतिबिंब होने के कारण पुरुष अपने को अज्ञान से चाहनेवाला और करनेवाला समझता है इसी लिये शुभाशुभरूप जो कर्म हैं उन के फल

जो सुख दुःख स्वर्ग नरक जन्म मरण आदिक हैं सो पुरुष को भोगने पड़ते हैं। क्योंकि पुरुष सच मुच कर्त्ता न होके भी जो अज्ञान से अपने को कर्त्ता समझता है इसी से अपने को उन शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने के बंधन में ले आता है। सो यही पुरुष का बद्ध होना है। पर जो अभी कहा गया कि इच्छा कर्तृत्व आदिक बुद्धि के धर्मों के पुरुष में प्रतिबिंबित होने से पुरुष अपने को अज्ञान से कर्त्ता समझता है उस का भी यही तात्पर्य जान्ना चाहिये कि यह समझना भी सच मुच पुरुष में नहीं रहता। क्योंकि हम कह चुके कि सांख्य के मत से समझने का गुण सच मुच पुरुष में नहीं रहता। परन्तु क्या ज्ञान क्या अज्ञान दोनों अन्तःकरण ही की वृत्ति हैं। मानों अन्तःकरण ही अपने को और पुरुष को एक समझ के और अपने गुण जो इच्छा और कर्तृत्व हैं उन का पुरुष पर आरोप करके कहता है कि मैं चाहता हूं और कर्त्ता हूं। और अन्तःकरण ही के इस अज्ञानरूप वृत्ति का पुरुष में प्रतिबिंवित होना यही पुरुष का अज्ञानी होना है। सांख्यवाले इस विषय में अद्भुत २ कल्पना करते हैं और उन को बड़ी सावधानी से सुन्ना चाहिये तभी कुछ समझ में आ सकेंगी। उन की सब प्रकार से यह इच्छा है

कि आत्मा को ज्ञान इच्छादि सब गुणों से रहित और निर्गुण ठहरावें इस लिये वे ज्ञान को आत्मा में सर्वथा मान्ने नहीं चाहते। और अज्ञान भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है क्योंकि जो अयथार्थ ज्ञान है उसी को अज्ञान कहते हैं जैसे शुक्ति में रजत को देखना। यद्यपि यह यथार्थ नहीं है तथापि एक प्रकार का ज्ञान ही है। सो सांख्यवालों को क्या यथार्थ और क्या अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञान को अन्तःकरण की वृत्ति अथवा आत्मा में का उस वृत्ति का प्रतिबिंब करके मान्ना पड़ता है॥

सो सांख्यवाले जब कहते हैं कि कर्तृत्व भी अन्तःकरण ही की वृत्ति है केवल अज्ञान से आत्मा अपने को कर्त्ता मानता है उस का ठीक तात्पर्य पढ़नेवाले की बुद्धि में अब प्रगट होगा। सो जैसे ज्ञान इच्छा और कर्तृत्व की बात है वैसे ही धर्म अधर्म और सुख दुःख की बात है। अर्थात् ये सब भी अन्तःकरण ही की वृत्ति हैं और उन का पुरुष में प्रतिबिंब होना यही पुरुष का धर्मी अधर्मी और सुखी दुःखी होना है। फिर धर्म अधर्म और सुख दुःख के प्रतिबिंब से युक्त जो आत्मा है उस के विषय में जो अन्तःकरण की वृत्ति होती है वह वृत्ति अथवा उस का आत्मा में प्रतिबिंब होना यही आत्मा का अपने

को धर्मी अधर्मी और सुखी दुःखी मान्ना है। और यही सब पुरुष का बंध और दुर्दशा है। सो इस दुर्दशा से छूटने के लिये जो कोई सांख्यशास्त्र का श्रवण मनन निदिध्यासन करेगा और उस्से यह विवेक ज्ञान प्राप्त करेगा कि कर्त्तृत्व भोक्तृत्व तो केवल प्रकृति के धर्म हैं क्योंकि अन्तःकरण प्रकृति ही का परिणाम है और पुरुष तो प्रकृति से सर्वथा भिन्न है और वह न कर्त्ता है और न भोक्ता है पर शुद्धस्वरूप है तब वह प्रकृति के बंधन से छूट जाता है। क्योंकि सांख्य शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति के समान सुकुमार और कोई वस्तु नहीं है कि जब लों पुरुष ने उस को देखा नहीं तब लों तो वह अपने जाल फैलाया करती है पर ज्योंही उस की कपट लीला देखी जाये त्योंही वह लज्जित होके पुरुष से ऐसी भागती है कि फिर अपना मुंह नहीं दिखलाती। सो जब पुरुष को ज्ञान हुआ तब उस ज्ञान के प्रभाव से संचित कर्म नष्ट हो जाता है और अब वह अपने को कर्त्ता नहीं समझता इस लिये जो कुछ क्रियमाण कर्म है अर्थात् वह कर्म जो प्रति दिन उस्से होता जाता है उस्से उस को कुछ पाप पुण्य नहीं होते। केवल प्रारब्ध कर्म के भोग लों उस को शरीर में रहना पड़ता है और जब वह समाप्त हो चुकेगा तब

शरीर को छोड़ेगा और फिर उस को स्वर्ग नरक अथवा जन्मान्तर का डर नहीं है। क्योंकि अब कोई कर्म उस के पास नहीं है जिस के भोगने के लिये उस को शरीर पकड़ना हो॥

पर इस विषय में हमारी ऊपर कही हुई बात का स्मरण रखना चाहिये कि सांख्य के मत से क्या ज्ञान क्या अज्ञान दोनों सच मुच आत्मा में नहीं हैं पर ये दोनों अन्तःकरण ही के धर्म हैं। इस लिये मैं प्रकृति से भिन्न और शुद्ध हूं यह जो ज्ञान है सो भी अन्तःकरण ही की वृत्ति है और अन्तःकरण तो प्रकृति का परिणाम है। इस लिये यह समझा चाहिये कि जैसे प्रकृति ही अपने परिणाम रूपी अज्ञान से आत्मा को बद्ध करती है वैसे प्रकृति ही अपने परिणाम रूप ज्ञान से उस को मुक्त करती है। इस लिये आत्मा को बद्ध और मुक्त करनेवाली प्रकृति ही है। इसी कारण से सांख्याचार्यों का यह कहना है कि पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये प्रकृति का सारा व्यापार है। वरन सांख्यवाले तो यह भी कहते हैं कि सच मुच पुरुष न बद्ध होता न मुक्त होता है पर बंध और मोक्ष दोनों प्रकृतिही को होते हैं जैसे ६२ वीं सांख्य कारिका में स्पष्ट करके कहा है॥

येही सांख्य और योग के मतों के मुख्य सिद्धान्त

हैं। पर उन दोनों में इस एक बड़ी बात में भेद है कि योग मत ईश्वर को मानता है पर सांख्य मत नहीं मानता जैसे हम आगे कह चुके। सांख्यवाले वेद को अनादि तो नहीं मानते तथापि कहते हैं कि उस का कोई कर्त्ता नहीं। वह प्रत्येक सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा के मुख से आप से आप निकलता है। ब्रह्मा उस को बुद्धि से नहीं बनाता इस लिये वह उस का कर्त्ता नहीं॥

ये सिद्धान्त क्याही अद्भुत हैं। ऐसा बड़ा परिश्रम जो उन्हों ने किया है सो इस एक बात के सिद्ध करने के लिये है कि पुरुष को ज्ञान इच्छा कर्त्तृत्व सुख दुःखादि गुणों से रहित ठहरावें। क्योंकि वे कहते हैं कि यदि ज्ञान इच्छादिक गुण पुरुष में मानें तो यह उस का स्वभावही ठहरेगा तब उस के स्वभाव को कौन दूर कर सकेगा और तब उस की मुक्ति कैसे होगी। क्योंकि सब शास्त्रकारों के सिद्धान्त से मुक्तिदशा में ज्ञान इच्छादि से रहित होना आवश्यक है। क्योंकि उन को ज्ञान इच्छादिकों से ऐसा डर है कि वे समझते हैं कि जहां ये हैं तहां सब प्रकार की दुर्दशा है। और दुःख से रहित होना तो मुक्ति में सर्वथा आवश्यक ही है। इसी लिये सब शास्त्रकार आत्मा को सब प्रकार की दुर्दशा से छुड़ावने के लिये चाहते हैं कि उस को ज्ञान

इच्छादि से रहित करने की कोई राह निकालें और अपने २ मन से एक २ राह निकालते हैं। उन में से सांख्यवालों के मन में यही आया कि उस को प्रथम ही से ज्ञान इच्छादि गुण रहित माने विना नहीं वनेगा। और इस लिये देखो क्या क्या अद्भुत २ वातें ठहराई हैं। वे इस विषय में स्वाभाविक विवेक की सीमा का उल्लंघन करके वहुत दूर भटक गये॥

अब मीमांसा शास्त्र का और दर्शनों के समान वंध मोक्ष और आत्मानात्म का विचार करने पर तात्पर्य नहीं है परन्तु केवल वेद के विधि और कर्म काण्ड का विचार करने पर है। और उस विषय में हम उस शास्त्र की परीक्षा नहीं करने चाहते। पर उस मत की विशेष करके यहां चर्चा करने के योग्य वातें जो हैं सो ये हैं कि वे ईश्वर को नहीं मानते और वेद के विषय में कहते हैं कि वह किसी का वनाया नहीं है पर अनादिकाल से ऐसाही है। और जो कुछ उस में विधि निषेध और कर्मों के भले अथवा बुरे फल लिखे हैं उन को सत्य समझते हैं। पर जो कुछ वेद में देवताओं का वर्णन किया है उस को झूठ मानते हैं और कहते हैं कि वे बातें केवल कर्म की स्तुति करने के लिये लिखी हैं। इस बात में उन का यह आश्चर्यकारक मत है। वेद

में लिखा है कि यज्ञ करने से स्वर्ग होता है। और यज्ञ तो इस को कहते हैं कि इन्द्र वरुण अग्नि आदिक देवताओं को अग्नि में घी मांसादिक चढ़ाना और वेद में के स्तोत्रों को पढ़ पढ़के और गा गाके उन देवताओं के कर्मों और गुणों की स्तुति गाना। अब मीमांसक कहते हैं कि वे इन्द्रादिक देवता कुछ हैं ही नहीं और उन के चरित्र केवल स्वप्नवत् हैं। और तथापि वेद के कहे के अनुसार उन के नाम से अग्निकुण्ड में आहुति के गिरने में और उन के स्तोत्रों के अक्षरों को मुख से निकालने में ऐसा कुछ विचित्र प्रभाव है कि उस्से स्वर्ग प्राप्त हो जाता है॥

नैयायिक और वैशेषिकों के मुख्य सिद्धान्त ये हैं। वे एक अनादि अनन्त निर्विकार निराकार निरवयव सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ जगत्कर्त्ता सब के प्रभु और जीवों के कर्मों के फलदाता ईश्वर को मानते हैं। वह अनादि जीवों को उन के सत् अथवा असत् कर्मों का भला अथवा बुरा फल देने के लिये उपादान कारणरूप पदार्थों को लेके इस प्रपंच की रचना प्रतिपाल नियमन और नाश करता है जगत के पदार्थों में कितनों को वे अनादि और कितनों को सादि मानते हैं। पृथिवी जल अग्नि वायु के

परमाणुओं को और आकाश काल दिशा मन और आत्मा को अनादि कहते हैं। परमाणु उस को कहते हैं जो पृथिवी आदिकों का सब से छोटा भाग है जो आंख से देखने अथवा हाथ से छूने अथवा किसी और इन्द्रिय से जान्ने के योग्य नहीं और जिस का आगे और विभाग नहीं हो सक्ता। पर उन के मत के अनुसार वह आप से आप सदा काल से अखण्डरूप बना रहता है। इन परमाणुओं के एकट्ठा होने से ये जो दृश्य और स्पृश्य पृथिवी जल आदिक पदार्थ हैं सो बनते हैं इसी लिये ये सब के सब सादि और विनाश के योग्य भी हैं। नैयायिक और वैशेषिक जीवात्माओं में ज्ञान इच्छा कृति धर्म्म अधर्म्म सुख दुःख आदिक गुण मानते हैं। और उन को अनादि अनन्त अगणित और शरीर इन्द्रिय और मन से भिन्न मानते हैं। और उन को सर्वव्यापक भी समझते हैं कि यद्यपि वे केवल शरीर में होके देख सकते और सब प्रकार के ज्ञान और इच्छादिकों का अनुभव कर सकते हैं तथापि उन का स्वरूप केवल शरीर से परिच्छिन्न नहीं है पर वह शरीर के बाहर भी सर्वत्र व्याप के रहता है। फिर दूसरे दर्शनकारों के समान नैयायिक और वैशेषिक भी कहते हैं कि आत्मा अपने को अज्ञान से

शरीरादिकों के साथ एक करके मानता है और इसी अज्ञान से उस की सारी दुर्दशा है और केवल ज्ञान ही से उस्से छूटकर निःश्रेयस को प्राप्त कर सक्ता है। नैयायिक और वैशेषिक वेद को ईश्वर का बनाया समझते हैं॥

ये दर्शनों के भिन्न २ सिद्धान्तों में से मुख्य २ सिद्धान्त हैं। इन को छोड़ और भी अनेक बातों में उन के भिन्न २ मत हैं परन्तु उन का यहां वर्णन करना आवश्यक नहीं है॥

अब जिस मनुष्य में कुछ भी विवेक हो और जिस ने हठ करके सत्य के न मान्ने में कमर न बांधी हो वह सहज से इस बात को जान सक्ता है कि जब ये दर्शन आपस में एक दूसरे से विरुद्ध हैं तो ये सब के सब सत्य नहीं हो सक्ते। जब एक मनुष्य एक वस्तु को काली कहता और दूसरा उसी को श्वेत कहता है तो प्रगट है कि उन दोनों में से एक भूल में है। कितने लोग हैं जो बड़ा परिश्रम करके यह सिद्ध करने चाहते हैं कि षड्दर्शनों में कहीं बिरोध नहीं है। हम उन से कहते हैं कि तुम दर्शनों के मूलसूत्रों को देखो तो जान पड़ेगा कि वे आपस में एक दूसरे के मत का नाम ले लेके एक दूसरे का खण्डन करते हैं। और शङ्कराचार्य्यादिकों

के ग्रन्थों में देखा है कि एक दूसरे को गालियां भी देते हैं जैसे कि शङ्कराचार्य्य नैयायिकों को विना सींग और पूंछ के वैल कहता है क्या यह मेल का लक्षण है । सो इस प्रकार से भिन्न २ दर्शनों के सिद्धान्तों का पृथक् २ विचार किये विना ही यह बात सिद्ध होती है कि उन में भूल है और इसी लिये उन के कर्त्ता ऋषियों की वुद्धि भी हमारे समान भूलनेवाली थी । परन्तु जव उन के सिद्धान्तों को पृथक् करके विचारने लगते हैं तव तो यह बात अधिक स्पष्ट होती है ॥

---

३ तीसरा अध्याय ।

जिस में सांख्य के जो ये सिद्धान्त हैं कि ईश्वर नहीं है और तथापि धर्माधर्म और उन के फल हैं और वेद का कर्त्ता कोई नहीं तथापि वह अखण्डनीय प्रमाण है उन की परीक्षा है ॥

सांख्यवाले इश्वर को नहीं मानते यह उन की कैसी वड़ी भूल है । इस जगत की रचना में चारों ओर ऐसे अगणित और स्पष्ट चिन्ह हैं जिन से यह निश्चय होता है कि यह जगत् किसी महापराक्रमी और वर्णनातीत वुद्धिवाले ने वुद्धिपूर्वक वनाया है । यह वात तो स्वतः प्रकाशमान है कि किसी प्रयोजन

के लिये कोई काम करना चेतन ही का काम है। क्योंकि जो कोई यह जानता हो कि अमुक काम से अमुक प्रयोजन निकलेगा वही केवल उस प्रयोजन के लिये उस काम को कर सकेगा। इस लिये निश्चित है कि उस काम के कर्ता में ज्ञान है और उसी को चेतन कहते हैं। सो जब हम किसी वस्तु को देखें और उस के विचार करने से हम को यह निश्चय हो कि यह अमुक प्रयोजन के लिये है तो फिर इस सन्देह की कुछ भी जगह न रहेगी कि यह किसी चेतन का काम है अथवा नहीं। जैसे यदि हम किसी स्थान में चार मनुष्यों की रसोंई बनाने के योग्य काष्ठों की एक राशि देखें और उतने ही मनुष्यों के योग्य दाल चावल आटा घी तर्कारी आदिक पदार्थ भिन्न २ पात्रों में रक्खे हुये हों और चूल्हा और भूमि लीप पोत के स्वच्छ की हों तो हम पूछते हैं कि ऐसा कोई भी नास्तिक इस जगत् में मिलेगा जो यह सन्देह करे कि क्या जानिये यह सब सामग्री किसी ने रसोंई के प्रयोजन के लिये सिद्ध किई है अथवा आप से आप अकस्मात् बटुर गई है। फिर वैसे ही यूरोपीय घड़ीयन्त्र की बात है कि जो कोई उस के चक्रों की रचना की परीक्षा करेगा उस को कभी यह सन्देह न होगा कि यह

यन्त्र किसी ने समय जान्ने के प्रयोजन के लिये बनाया है अथवा नहीं। तो हम कहते हैं कि यह जगत तो ऐसे अगणित पदार्थों से भरा हुआ है कि जिन की परीक्षा करने से यह निश्चय होता है कि ये पदार्थ अमुक २ प्रयोजन के लिये बने हैं। इस में यह भी एक बात समझना चाहिये कि यदि भिन्न २ प्रकार के अनेक पदार्थ न हों जो सब मिलके एक प्रयोजन को सिद्ध करते हों परन्तु कोई पदार्थ अकेलाही किसी प्रयोजन को उत्पन्न कर सक्ता हो तो उस के विषय में यह सन्देह हो सक्ता है कि क्या जानिये इस को किसी ने प्रयोजन के लिये रक्खा है अथवा अकस्मात् यहां पड़ा है। जैसे यदि किसी स्थान में एक अथवा दो लकड़ी पड़ी हों तो उन के देखने से निश्चय नहीं होता कि किसी ने इन को रसोंईही के लिये धरा है यद्यपि उन से रसोंई का प्रयोजन निकल सक्ता है। क्योंकि हो सक्ता है कि वे लकड़ियां किसी के हाथ से वहां गिर पड़ी हों। और जैसा उन से हम रसोंई का प्रयोजन निकाल सक्ते हैं वैसे ही और प्रयोजन भी निकाल सक्ते हैं। जैसा कि हम उन को लेके कुत्ते को हांक सक्ते हैं अथवा आवश्यक हो तो पृथिवी में गाड़के खूंटी बना सक्ते हैं। परन्तु यह

कोई निश्चय करके न कह सकेगा कि वे लकड़ियां इन में से किसी एक प्रयोजन के लिये धरी हैं। परन्तु जब लकड़ी और पानी और दाल और आटा आदिक अनेक पदार्थों को देखते हैं तब तो कुछ सन्देह नहीं रहता पर निश्चय होता है कि यह सब सामग्री रसोंईही के लिये है। और इस निश्चय का मूल यह है कि उन में से हर एक पदार्थ अपने २ भाग में रसोंई का संपादक है और यह निश्चय है कि एकही प्रयोजन के उपयोगी इतने अनेक पदार्थ अपने २ योग्य भाग के समान अपने २ योग्य स्थान में बिना किसी के जुहाये अकस्मात् कदापि एकट्ठे नहीं हो सक्ते। वैसे ही इस जगत में अगणित पदार्थ हैं जो ऐसे नहीं हैं कि अकेले और अमिश्रित होके किसी २ प्रयोजन को निकालते हैं। तब तो शंका होती कि केवल आकस्मिक घटना से इन से यह प्रयोजन निकल आता है। पर वे पदार्थ ऐसे हैं कि अनेक सूक्ष्म और स्थूल अवयवों से मिले हुए हैं। और उन में से हर एक अवयव अपने २ भाग में एक प्रयोजन के सिद्ध करने के लिये आवश्यक है। और हर एक अवयव अपने २ योग्य परिमाण से और योग्य स्थान में धरा हुआ है और योग्य द्रव्य से बना है। जैसे कि घड़ी का जो अवयव लोहे से

चाहिये सो अवयव लोहे से और जो पीतल से चाहिये सो पीतल से और कोई चीनी से और कोई काच से बना रहता है। और यद्यपि इस जगत में के अनेक अद्भुत पदार्थों को हम लोग आज तक अच्छी भांति से न जानते थे तथापि यूरोप के पण्डितों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि और बड़े २ खोज और परिश्रम और अनेक यन्त्रों के द्वारा से शरीर और वृक्षादिकों की रचना और भूगोल और खगोल और जल पवन तेज आदि तत्वों के स्वरूप और भेद और गुण आदिकों की ऐसी परीक्षा किई है कि जो कोई अब उन के ग्रंथों को पढ़ता है उस को एक दिव्य दृष्टि सी हो जाती है और उस को चारों ओर ईश्वर की अचिंत्य शक्ति और बड़ी कुशलता के अगणित चिन्ह देख पड़ते हैं। जैसे यदि केवल मनुष्य के नेत्र की परीक्षा करें तो उसी में ऐसी अद्भुत कुशलता देख पड़ती है कि कुछ कह नहीं सक्ते। नेत्र की रचना में और दूर्बीन की रचना में कुछ समानता है तथापि दूर्बीन की कारीगरी नेत्र की कारीगरी के साम्हने तुच्छ है। दृष्टि विद्या के परीक्षकों ने इस बात को अच्छे प्रकार से निश्चित किया है कि जिस पदार्थ को नेत्र के द्वारा देखना है उस पदार्थ का प्रतिबिंब नेत्र के तल में पड़ना अवश्य है सो इस प्रयोजन के

सिद्ध करने के लिये नेत्र की सारी रचना ऐसी कुशलता से भरी है कि बुद्धि चकित हो जाती है। इस नेत्र में अनेक पड़दे हैं और वे ऐसे हिसाब से जड़े हैं और ऐसे द्रव्यों से बने हैं कि जिस्से वह इष्ट प्रयोजन सिद्ध होवे। फिर इस के भीतर अनेक अवयव हैं और उन में कितने ऐसे सूक्ष्म हैं कि मैक्रास्कोपनामें शीशे की सहायता बिना देख नहीं पड़ते। पर उन सब की बनावट और जड़न और परिमाण ठीक हिसाब के साथ है। फिर दूर के और समीप के पदार्थों के और अधिक और कम प्रकाश में के पदार्थों के देख पड़ने के लिये जो जो अद्भुत उपाय उस में रचे हैं और आकाश में उड़नेवाले और पानी में चलनेवाले आदि जीवों को अपनी २ दशा के समान पदार्थ देख पड़ने के लिये जो जो भिन्न २ रचना और ऐसी २ अनेक बातें जो नेत्र के विषय में हैं यदि उन को संपूर्ण यहां लिखें तो इसी एक बात पर बड़ा ग्रंथ हो जायगा। तो हम कहते हैं कि यदि रसोंई की सामग्री और घड़ी यन्त्र को देखने से कर्त्ता के विषय में सन्देह नहीं रहता तो इस सृष्टि के ऐसे २ पदार्थों को देखके क्यों उन के कर्त्ता के विषय में सन्देह होता है। क्योंकि जो वहां कर्त्ता का निश्चय होने का कारण है वैसाही ठीक यहां

भी है। पर यदि कोई कहे कि हम को रसोंई की सामग्री के कर्त्ता का निश्चय होता है पर सृष्टि के पदार्थों के कर्त्ता का नहीं होता तो हम कहते हैं कि इस का कारण केवल यही है कि वह अपनी उन्मत्तता से चाहता नहीं कि परमेश्वर का होना सिद्ध होवे और इसी लिये वह इस बात के विचार में अपने मन को अच्छी रीति से पैठाता नहीं और इस कारण से यह बात उस के मन में प्रगट नहीं होती॥

कितने लोग विचार न करके जलदी से कह बैठते हैं कि रसोंई की सामग्री और घड़ी आदि के विषय में कर्त्ता को हम इस लिये मानते हैं कि हम ने लोगों को रसोंई की सामग्री जुहाते और घड़ी बनाते देखा है पर जगत को बनाते हम ने किसी को कभी नहीं देखा इस लिये उस के कर्त्ता को हम नहीं मानते। पर हम कहते हैं कि क्या यदि यहां कभी किसी ने किसी को घड़ी बनाते न देखा होता और न यहां उस को कोई बना सक्ता और तथापि यदि कोई इस देश का मनुष्य घड़ी देखता और उस के सब अवयवों की जड़न और हर एक के प्रयोजन को विचारता तो क्या वह यह न मानता कि यह पदार्थ किसी महा बुद्धिमान ने बनाया है। जानो कि कर्त्ता के मान्ने का कारण किसी को करते देखना

नहीं है परन्तु वही है जो हम ने पहिले बताया अर्थात् जब यह देखने में आता है कि इतने अनेक पदार्थ जिन में से हर एक अपने २ भाग में अमुक प्रयोजन के लिये आवश्यक है यहां योग्य परिमाण से और योग्य स्थान में एकत्र किये गये हैं। क्योंकि बुद्धि यह कहती है कि विना किसी ने जान बूझके इन को एकत्र किये इन सब का इस हिसाब से एकत्र होना अनहोना है॥

कितने लोग स्वभाव इस शब्द को ऐसा महा मन्त्र समझते हैं कि मानो इस के कहतेही सब शंका दूर हो सक्ती हैं। वे कहते हैं कि यह एक स्वभाव है कि मनुष्य के बीज से मनुष्य का शरीर उत्पन्न होवे जैसे गेहूं के बीज से गेहूं होता है। पर हम उन से पूछते हैं कि यह स्वभाव कोई चेतन वस्तु तो नहीं है कि जिस में समझ बूझ इच्छा आदि गुण होवें तब वह ऐसा काम क्योंकर कर सकेगा जिस में कि समझ बूझ और मनसूबा के स्पष्ट लक्षण देख पड़ते हैं। जो लोग इस प्रकार से स्वभाव का नाम लेते हैं वे प्रगट करते हैं कि उन्हों ने हमारी युक्ति का जो मुख्य बल है उस को समझाही नहीं। हमारी युक्ति का मुख्य बल इस बात में है। हम कहते हैं कि सृष्टि में के शरीरादि पदार्थों के विचारने से स्पष्ट

ज्ञान पड़ता है कि इस की रचना अमुक २ प्रयोजन के लिये है और उस के उपयोगी इस में बड़ी कारीगरी और हिसाब के साथ जड़न देख पड़ती है। और यह निश्चित है कि प्रयोजन के लिये कोई काम करना और उस के योग्य अनेक पदार्थों की ठीक हिसाब के साथ रचना करना चेतन के सिवाय किसी से नहीं हो सक्ता इस लिये चेतन कर्त्ता सिद्ध होता है। पर स्वभाव कहने से क्योंकर इस का उत्तर होगा। क्या स्वभाव इस बात को मन में ला सक्ता है कि मुझ को अमुक काम करना है और क्या उस को इस बात का ज्ञान है कि ऐसी २ रचना करने से यह प्रयोजन सिद्ध होगा। क्योंकि यदि वह ऐसा कर सके तो फिर वही ईश्वर ठहरा तब तो तुम में हम में नामही भर का भेद ठहरा। और यदि ऐसा नहीं परन्तु वह एक जड़ और ज्ञानरहित और समझ रहित पदार्थ है तो उस्से यह काम नहीं हो सकेगा। क्योंकि तुम्हीं थोड़ा सूक्ष्म विचार करके देखो कि यद्यपि हम यह बात मान भी लें कि हवा में यह स्वभाव है कि एक स्थान से मट्टी को उड़ाके दूसरे स्थान में गिरा दे पर क्या यह बात कभी मन में आ सक्ती है कि हवा आप से आप एक सुन्दर सुथरा घर बनावे अथवा आग आप से आप दाल रोटी तर्कारी आदि पकावे॥

पर इस विषय में लोगों के अविश्वास का मुख्य कारण यही है कि वे परमेश्वर को अपने हाथ से सृष्टि के काम करते नहीं देखते । पर हम उन से पूछते हैं कि भला जब कोई खेत गोड़ने के लिये कुदारी उठाता है तो उस को तो अपने हाथों से उठाता है परन्तु जिन हाथों से कुदारी को उठाता है उन हाथों को किन हाथों से उठाता है । क्या उन को केवल इच्छा से नहीं उठाता । और क्या वह इच्छा अदृश्य और मनुष्यों की आंखों से गुप्त नहीं है । वैसे ही निश्चय करो कि परमेश्वर भी अपनी अदृश्य इच्छा और शक्ति से सब कार्य करता है ॥

सांख्यवालों की अद्भुत बात देखो । वे कहते हैं कि प्रकृति ही पुरुष के उपभोग के लिये अनेक काम करती है और फिर इस बात के सिद्ध करने के लिये यह दृष्टान्त ले आते हैं कि दूध यद्यपि जड़ पदार्थ है तथापि वत्स के पोषण के लिये गाय के स्तनों में प्रगट होता है । पर यह तो एक बाधित वस्तु के सिद्ध करने के लिये दूसरी बाधित वस्तु को प्रमाण ठहराना है । क्योंकि हम आगे दिखा चुके हैं कि किसी प्रयोजन के लिये कोई काम करना यह बात चेतन के सिवाय किसी से हो ही नहीं सक्ती । वाह

जब मनुष्य अपने मन को कठोर करके नास्तिकता पर कमर बांधता है तो कैसा अंधा हो जाता है कि जो बात ईश्वर के सिद्ध होने के लिये अशंकनीय प्रमाण है उसी को सांख्यवालों ने ईश्वर की अस्ति का खण्डन करने का अस्त्र बनाया। क्योंकि वत्स के लिये स्तनों में दुग्ध का होना और ऐसी २ अनेक बातों के देखने से यह निश्चय होता है कि ईश्वर है और ये सब उसी के कार्य हैं पर सांख्यवाले उसी को इस बात का प्रमाण बनाते हैं कि यह सारा जगत जिस में की सब बातें प्रयोजन के लिये हैं एक जड़ प्रकृति का बनाया हुआ है॥

फिर सांख्य की अति आश्चर्यजनक भूल इस में देख पड़ती है कि यद्यपि वे ईश्वर को नहीं मानते तथापि पाप पुण्य को और उन के फलों को मानते हैं और अनेक विध कर्मकाण्ड और जप तप और ध्यान धारणादिकों का जूआ मनुष्यों के कन्धों पर रखते हैं। हम तो यह समझते हैं कि सब आस्तिक मतों का मूल और उस में की मुख्य और प्रथम बात ईश्वर है। क्योंकि ईश्वर नहीं तो विधि अथवा निषेध करनेवाला कौन होगा। फिर स्वर्ग नरक भी कहां। क्योंकि सुकर्म और कुकर्म का फल अथवा दण्ड देनेहारा कौन है। पर हम जानते हैं कि इस

विषय में इस देश के सारे शास्त्रकारों में एक साधारण भूल है कि वे धर्म अधर्म और उन के फलों का विचार करते २ इस बात को भूल गये कि धर्म और अधर्म से जो शुभ और अशुभ फल होते हैं सो केवल इस प्रकार से होते हैं कि ईश्वर ने धर्म की आज्ञा दिई है और अधर्म को वर्जा है इस लिये वह आज्ञापालकों पर प्रसन्न होके उन को शुभ फल देता है और आज्ञाभञ्जकों को अपने न्यायी स्वभाव के कारण से दण्ड देता है । इस बात को बिसराके दर्शनकर्त्ता उन कर्मों ही में बीजादिकों की नाईं कोई स्वाभाविक फल देने की शक्ति मान्ने लगे । यद्यपि यह भूल न्यायादिकों में स्पष्ट नहीं देख पड़ती तथापि सांख्य और मीमांसा में खुलाखुली प्रगट होती है । इस बड़ी भूल का हम आगे कुछ निरूपण करेंगे ॥

फिर वेद के विषय में सांख्यवाले जो कहते हैं उस में भी कैसी बड़ी भूल करते हैं । वे कहते हैं कि वेद का कोई कर्त्ता नहीं । क्योंकि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में वह आप से आप ब्रह्मा के मुख से मनुष्य के श्वास की नाईं निकलता है । ब्रह्मा उस का कर्त्ता नहीं कहा सकता क्योंकि वह उस को अपनी बुद्धि और इच्छा से नहीं बनाता ॥

पर कोई ग्रन्थ जब लों कि कोई कर्त्ता उस को अपनी वुद्धि और इच्छा से न वनावे नहीं वन सक्ता। क्योंकि जैसा हम ने ईश्वर की अस्ति सिद्ध करने में कहा कि रसोंई की सामग्री देखने से निश्चय होता है कि ये सब अनेक पदार्थ रसोंई ही के प्रयोजन के लिये एकत्र किये गये हैं तैसे ही ग्रन्थ में के अनेक वाक्यों पदों और अक्षरों की योग्य अन्वय और क्रम के साथ रचना देखने से भी यह निश्चय होता है कि अमुक अर्थ के प्रगट करने के प्रयोजन ही के लिये ये सब एकत्र किये गये हैं। वे वाक्य पद और अक्षर मानों पुकारके कहते हैं कि हम अमुक अर्थ प्रगट करने चाहते हैं। पर यह तो स्पष्ट है कि किसी अभिप्राय को प्रगट करने चाहना चेतन का काम है जड़ का नहीं इस लिये निश्चय है कि किसी चेतन ही ने उन वाक्यों पदों और अक्षरों की उस क्रम के साथ रचना किई है। क्योंकि इन दो वातों में से एक वात हम से कहो कि वेद के वाक्यों का किसी अभिप्राय के प्रगट करने पर तात्पर्य्य है अथवा नहीं। यदि है तो यह काम चेतन पुरुष ही का है। पर यदि कहो कि किसी अभिप्राय के प्रगट करने पर उन का तात्पर्य्य नहीं है तो सारा वेद अर्थरहित ठहरा। तव ऐसा ग्रन्थ

विधि अथवा निषेध क्योंकर कर सक्ता और सुकर्म्म कुकर्म्म के फलों का सन्देश क्योंकर दे सक्ता है। इस बात को तो बालक भी जान सकेगा कि कोई आज्ञा देना अथवा कुछ बात बताना चेतन का काम है जड़ पदार्थ का नहीं॥

---

४ चौथा अध्याय।

जिस में सांख्य के जो ये सिद्धान्त हैं कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और ज्ञान इच्छा कर्तृत्व सुख दुःख आदिक गुण आत्मा में नहीं हैं उन की परीक्षा है॥

अब सांख्य का प्रकृतिवाद भी हम को अत्यन्त निर्युक्तिक जान पड़ता है। इस्से न्यायशास्त्र का परमाणुवाद अच्छा है। हम यह नहीं कहते कि न्यायशास्त्र का यह कहना सच है कि अनादि परमाणुओं से सृष्टि की रचना हुई है। क्योंकि ईश्वर को छोड़ हम किसी दूसरे पदार्थ को अनादि नहीं मानते परन्तु यह कहते हैं कि कुछ भी उपादान न रहते ही परमेश्वर ने अपने अचिन्त्य सामर्थ्य से सब कुछ उत्पन्न किया। पर यहां हमारा तात्पर्य यह है कि यदि कोई इस प्रकार से विना उपादान के सृष्टि का बन्ना न माने तो उस को यही मान्ना

पड़ेगा कि ये स्थूल पृथिवी आदिक पदार्थ अनेक सूक्ष्म भागों से बने हैं। परन्तु प्रकृति महत्तत्व अहंकार इत्यादिकों की सिद्ध के लिये कौन सी युक्ति है। तुम कहते हो कि यह जगत् सुख दुःख मोहरूप है और ये तो सत्त्व रज तम के धर्म हैं इस लिये यह बात अवश्य मान्ना चाहिये कि इस जगत् का जो उपादान कारण है सो सत्त्व रज तम से मिला हुआ है और वही प्रकृति है। पर यह ठीक नहीं। क्योंकि सुख दुःख और मोह जगत् के पदार्थों में नहीं रहते पर ये सब चेतन के गुण हैं और उसी में रहते हैं। इस बात को हम आगे चलके सिद्ध करेंगे। पर जगत् के पदार्थ तो चेतन में सुख दुःखादिकों के उत्पन्न होने का कारण हो सक्ते हैं। जैसे अग्नि को स्पर्श करने से हम को दुःख होता है परन्तु अग्नि ही दुःख नहीं है पर केवल हमारे दुःख का कारण है। यही तो सांख्यवालों की अद्भुत भूल है कि ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदिक पदार्थ जो केवल आत्मा के गुण हैं और आत्मा ही में रहते और स्वतन्त्र रीति से नहीं रह सक्ते उन को जगत् में ठहराते हैं और कहते हैं कि जैसा यह जगत् है वैसा ही कोई उस का उपादान कारण चाहिये और वही प्रकृति है। इस प्रकार से आत्मा

को जड़ और जगत् और उस के उपादान कारण को चेतन बनाते हैं। और यद्यपि उन को चेतन बनाते हैं तथापि कहते हैं कि प्रकृति महत्तत्वादिक केवल जड़ द्रव्य हैं। तो ऐसे अद्भुत पदार्थ किसी युक्ति से नहीं सिद्ध हो सक्ते। परन्तु सत्त्व रज तम बुद्धि अहंकार इन शब्दों का जो योग्य अर्थ है उसी को यदि तुम मानो तो हम कहते हैं कि प्रकृति महत्तत्वादिक पदार्थ सिद्ध हैं। क्योंकि सत्त्व रज और तम तो जीव ही की भिन्न २ दशा हैं। जब जीव का ज्ञान प्रज्वलित रहता है और वह शान्ति और स्थिरता का अनुभव करता है तब उस को सत्वस्थ कहना चाहिये जब वह चंचलता की दशा में रहता और बाह्य विषयों की ओर अत्यन्त आसक्त होता है तब उस को रजःस्थ कहो जब मूढ़ता की दशा में होता है तब तमःस्थ कहो। और यदि येही सत्त्व रज और तम प्रकृति का रूप है तो हम कहते हैं कि यह प्रकृति जीवही की एक प्रकृति अर्थात् स्वभाव ठहरा। फिर महत्तत्व बुद्धि को कहते हो और बुद्धि आत्मा का गुण है। अहंकार तो मैं ऐसा प्रत्यय है वह भी आत्मा ही में होता है। सो इस प्रकार से प्रकृति महत्तत्वादिक पदार्थ सिद्ध हैं पर वे जगत का उपादान कारण नहीं हो सक्ते और

न जगत की उत्पत्ति से और उन से कुछ सम्बंध है ॥

सांख्यवालों का जो इस विषय में ऐसा अद्भुत मत हो गया है इस का जो कारण हुआ हो उस का हम निश्चय करके वर्णन तो नहीं कर सक्ते । तथापि यहां के पण्डितों की बुद्धि और उन के तर्क करने की रीति के देखने से एक कारण हम को अटकल से जान पड़ता है उस को हम लिखते हैं । इस में कुछ सन्देह नहीं कि यह निरीश्वरवादी सांख्य मत पहिले से यहां न था । क्योंकि मनुसंहिता और गीता आदिकों में यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति आदि के वर्णन में सांख्य की प्रक्रिया देख पड़ती है तथापि उन में ईश्वर को भी जगत्कर्त्ता करके माना है । इस्से हम को यह जान पड़ता है कि पहिले पहिल लोगों ने सेश्वर सांख्य का मत निकाला तब पीछे से होते २ निरीश्वर सांख्य का मत निकाला । पर पहिले जो सेश्वर सांख्य का मत प्रगट हुआ उस का मूल कदाचित् यह हुआ होगा । पहिले पहिल लोग ऐसा समझने लगे कि जगत की सृष्टि पालन और संहार करना रज सत्व और तम का काम है अर्थात् जब परमेश्वर रज आदि गुणों को पकड़ता है तभी सृष्टि आदिक काम करता है । इसी मूल से पीछे से

पुराणादिकों के समय में ब्रह्मा विष्णु और शिव नामे त्रिदेवों का मत निकला । फिर सृष्टि के समय में ईश्वर के विषय वेद में ऐसा लिखा है कि "स ऐक्षत" उस ने देखा "एकोहं बहु स्याम्" मैं एक हूं बहुत हो जाऊं । तो इन वेद वाक्यों से सृष्टि के समय ईश्वर का देखना और मैं हूं ऐसा अहंप्रत्यय सिद्ध होता है । और यहां देखना बुद्धि का धर्म है और अहंप्रत्यय अहंकार का धर्म है । तिस पर से अगिले लोगों ने यह ठहराया होगा कि ईश्वर ने सृष्टि करने के लिये बुद्धि का और अहंकार का अवलम्ब किया । क्योंकि उन के मत के समान जब सृष्टि नहीं रहती तब तो ईश्वर केवल निर्गुणता की दशा में रहता है तब उस में जान्ना और अहंप्रत्यय इत्यादि नहीं रहते । सो इस प्रकार से अगिले समय के लोग ईश्वर ही की राजस आदि दशा को और उसी के बुद्धि अहंकार को कदाचित् जगत का कारण मान्ने लगे होंगे । यदि कोई पूछे कि इस प्रकार से उन्हों ने सत्व रज तम और बुद्धि अहंकारादिकों को जगत का कारण माना भी हो तथापि वह केवल निमित्त कारण ठहरा परन्तु सांख्य शास्त्र में जो उन को उपादान करके माना है इस का क्या कारण ठहराते हो । तो उस का उत्तर यह है कि यही तो यहां के

पण्डितों की बुद्धि का दोष है कि वे किसी नाम को बहुत काल लों व्यवहार करते २ उस का मुख्यार्थ भूल जाते हैं और दूसरा अर्थ समझने लगते हैं। जो पदार्थ केवल धर्म्मरूप हैं और धर्म्मी से पृथक् कभी नहीं रह सकते उन की चर्चा कुछ काल लों करते २ उन को भी स्वतंत्र धर्मीरूप मान्ने लगते हैं। जैसे धर्म्माधर्म्म जो केवल परंपरा से सुख दुःख के कारण हैं अर्थात् उन के अनुसार ईश्वर अपनी इच्छा से मनुष्यों को भला अथवा बुरा फल देता है और वे केवल मनुष्य के कर्म हैं उन को मीमांसक और सांख्य सुख दुःख और सारे संसार के स्वतंत्र और साक्षात् कारण ठहराके ईश्वर की सत्ता को अनावश्यक कहने लगे। इसी प्रकार से सत्वादिकों को और बुद्धि और अहंकार को जगत का निमित्त कारण कहते २ उन को स्वतंत्र धर्म्मीरूप समझके जगत का उपादान कारण ही ठहराया। और गुणों को स्वतंत्र धर्म्मीरूप वरन उन को चेतनव्यक्तिरूप समझने की भूल हिन्दुओं के यहां और वातों में भी देख पड़ती है। जैसे पुराणादिकों में काम क्रोध शान्ति सन्तोष आदि गुणों की स्वतंत्र सृष्टि और उन के परस्पर विवाहादिकों का भी वर्णन देख पड़ता है। फिर कई स्थानों में ऐसे २ गुणों को पूजने का

भी विधि है। फिर यह दोष केवल हिन्दुओं ही में था ऐसा नहीं परन्तु प्राचीन ग्रीक आदिक लोगों में भी था। जैसे खिस्तीय शक के द्वितीय तृतीयादिक शतकों में वासिलैडीस् वालन्टीनस् इत्यादिक पाषण्ड मतवादी हुए उन के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि वे बुद्धि इच्छा आदि गुणों को चेतनव्यक्ति और सृष्टि के कर्त्ता मानते थे। सो हम को ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी ही कुछ सांख्यवालों की भी दशा भई। सो जिस कारण से पहिले लोग सत्वादिकों को जगत का कारण मानते थे उस को जब सर्वथा विसरा दिया और उन को औरही प्रकार से जगत के कारण मान्ने लगे तो प्रगट है कि उन शब्दों का अर्थ भी उन्हों ने पहिले से कुछ औरही प्रकार का ठहराया और उन को जड़ पदार्थ रूप मान्ने लगे और सत्वादि तीन गुणों को मिलाके प्रकृति नाम रक्खा। फिर जब पीछे से देखा कि इस प्रकृतिही से सारे जगत की उत्पत्ति हो सकती है तो कहा अब ईश्वर का भी क्या काम। सो इसी प्रकार से यह सांख्य नामक नया मत खड़ा हुआ होगा और होते होते सब बातों में उस के सिद्धान्त यहां लों बदल गये होंगे कि आरंभ में यह जिस मत से निकला उस से और इस से कुछ भी समानता न रही। ये

बातें जो केवल अटकल की रीति से इस समय हमारे मन में आईं सो लिख दिई हैं॥

अब हम कहते हैं कि तुम जो ज्ञान इच्छा कर्त्तृत्व सुख और दुःख को आत्मा के गुण नहीं मानते परन्तु अन्तःकरण की वृत्ति अथवा प्रतिबिम्ब करके मानते हो यह सर्वथा बाधित बात है। हम तो यह समझते हैं कि जान्ना चाहना करना इत्यादिक चेतन के गुण हैं और जिस में ये गुण हैं वही चेतन कहलाता है और वही आत्मा है। पर कदाचित् तुम कहो कि हमारी बोली में वही आत्मा कहलाता है जो ज्ञानादि गुणों से रहित हो तो हम कहते हैं कि ऐसे आत्मा का होना किसी प्रकार से नहीं सिद्ध हो सकेगा। और कदाचित् तुम अनेक मिथ्या तर्कों को लाकर अपनी समझ में एक ऐसा ज्ञानादि रहित पदार्थ सिद्ध करो और उस का नाम आत्मा रक्खो तथापि इतना जानो कि वह तुम्हारा कल्पित आत्मा हम तुम नहीं हैं। क्योंकि यह तो निश्चित है कि हम तुम जानते हैं चाहते हैं सुख दुःख भोगते हैं अर्थात् ज्ञान इच्छादिक गुण हम में तुम में हैं। और यह जो हमारा तुम्हारा अनुभव है सो भ्रमरूप कभी नहीं हो सक्ता। क्योंकि भ्रम तब कहलाता है जब ज्ञान हो और विषय न हो। जैसे जब शुक्ति में रजत

देख पड़ता है तब रजत विषयक ज्ञान तो है पर रजतरूपी विषय नहीं है । पर हमारा जो ज्ञान इच्छादि विषयक अनुभव है उस में ऐसी बात नहीं हो सकती । क्योंकि यहां ज्ञान और विषय एकही हैं । जैसे जब प्रकाश घट पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करता है तव प्रकाश प्रकाशक है और घट पट आदि प्रकाश्य हैं पर जब हम प्रकाशही को देखते हैं तब तो वह आपही प्रकाशक और प्रकाश्य भी है । वैसेही जब मुझ को इच्छा उत्पन्न होती है तो वह इच्छा ही आप अपना प्रकाश करती है । क्योंकि मैं कहता हूं कि मैं अमुक बस्तु चाहता हूं । तो इस में प्रगट है कि मैं एकही समय में चाहता भी हूं और अपने चाहने को जानता भी हूं पर यदि चाहना और चाहने को जान्ना भिन्न बस्तु होते तो एकही समय आत्मा में न उत्पन्न हो सकते ॥

फिर मैं चाहता हूं और सुख दुःख भोगता हूं इत्यादि अनुभव यदि भ्रम ठहरें तो फिर इच्छा सुख दुःख आदि पदार्थ ही कुछ न ठहरेंगे । क्योंकि उन का होना तो केवल इसी अनुभव से सिद्ध होता है । पर यदि कहो कि मैं चाहता हूं इत्यादि ज्ञान को हम केवल इस अंश में भ्रम कहते हैं कि वे हैं तो दूसरे के धर्म पर दूसरे में भासते हैं अर्थात् अन्तःकरण

के धर्म होके आत्मा में भासते हैं। तो हम कहते हैं कि यह कैसी बात है। तुम बतलाते हो कि मैं ऐसा कहना अन्तःकरण ही का धर्म है और इच्छा सुखादिक भी उसी के धर्म हैं तो इस से तो यही प्रगट हुआ कि जिस के धर्म उसी पर भासते हैं तब इस अंश में कहां भ्रम हुआ। पर हम जानते हैं कि तुम्हारे इस अद्भुत मत का गूढ़ तत्व इस बात में है कि तुम कहते हो कि मैं ऐसा कहना तो अन्तःकरण ही का धर्म्म है पर वह आत्मा को अपने से अभिन्न समझके उस को मैं कहता है और अपने इच्छादिक धर्म्मों को उस पर लगाता है और यही भ्रम है। तो हम कहते हैं कि यह तो भाई भटकने की परा काष्ठा है। क्या यह हो सक्ता है कि मैं ऐसा प्रत्यय जिस को होता है वह किसी दूसरे के विषय में ऐसा प्रत्यय करे। यह तो निश्चित है कि मैं ऐसा प्रत्यय करनेवाला जब मैं ऐसा कहता है तो अपने ही आत्मा के विषय में कहता है। क्योंकि जगत् भरे में मैं इस शब्द से अधिक कोई दूसरा शब्द अपने आत्मा का बोधक नहीं हो सक्ता। सो मैं यह शब्द यदि अपने आत्मा का बोधक है तो कहो कि मैं इस प्रत्यय का जो आश्रय है उस को छोड़ दूसरी कौन वस्तु में ऐसा कहनेवाले का आत्मा हो सकता

है । हमारी समझ में जैसे यह कहना कि दीप का प्रकाश किसी दूसरी वस्तु से निकलता है अथवा एक मनुष्य की छाया दूसरे मनुष्य से प्रगट होती है वैसा ही यह कहना है कि कोई अपने सिवाव दूसरे के विषय में आप ऐसा अनुभव कर सके । क्योंकि ऐसा भ्रम होने की यहां जगही नहीं । क्योंकि मैं इस प्रत्यय का विषय आप ही है और जिस में यह प्रत्यय उत्पन्न होता है वही उस का आप है पर जो वस्तु उस्से भिन्न है उस में तो वह प्रत्यय नहीं है और जिस में वह प्रत्यय नहीं है वह उस प्रत्यय का विषय ही नहीं । पर भ्रम तो उसी को कहते हैं जहां प्रत्यय हो पर उस का विषय न हो ॥

पर कदाचित् तुम कहो कि शरीरादिक जो आत्मा से भिन्न हैं उन को भी मनुष्य बहुधा अपना निज स्वरूप मानते हैं क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मैं काला हूं गोरा हूं ऐसा न कहते तो इस से सिद्ध होता है कि मैं ऐसा प्रत्यय दूसरे पदार्थ के विषय में भी होता है । तो हम कहते हैं कि ऐसा नहीं । क्योंकि मनुष्य जो शरीर को मैं कहते हैं सो प्रत्यक्षानुभव से नहीं कहते पर अनुमिति से कहते हैं । पर कोई कहे कि यह कैसी बात है मनुष्य तो अपनी आंख से अपने शरीर को देखके कहते हैं कि मैं काला

अथवा गोरा हूं। तो हम कहते हैं कि शरीर को तो अपनी आंख से देखते हैं कि काला अथवा गोरा है पर वह काला अथवा गोरा शरीर मैं हूं ऐसा ज्ञान उन को प्रत्यक्ष से नहीं होता। क्योंकि मैं ऐसा जो आत्मीय प्रत्यय है उस में न शरीर न उस के काले पन न गोरे पन का भान हो सकता है। इस लिये यह जानो कि मैं ऐसे आत्मीय प्रत्यक्ष से लोग केवल अपने निज स्वरूपही को जानते हैं और नेचादि के द्वारा से जैसे घट पट आदि को जानते हैं वैसाही शरीर को भी जानते हैं। और जब यह देखते हैं कि शरीर के विकारों से आत्मा को भी सुख दुःख आदि का अनुभव होता है तब यह अनुमिति करते हैं कि इस शरीर का और आत्मा का कोई अत्यंत दृढ़ संबंध है। और इस संबंध के कारण से शरीर और आत्मा में केवल आरोपित एकत्व मानके गौणार्थ में ऐसा व्यवहार करते हैं कि मैं काला अथवा गोरा हूं। क्योंकि हमारी समझ में जिन मनुष्यों में कुछ भी विवेक हो वे बहुधा शरीर को सच मुच आत्मा नहीं समझते। क्या कभी २ मनुष्य अपनी संपत्ति के क्षीण होने से ऐसा नहीं कहते कि हम इन दिनों में क्षीण हो गये तो क्या इस्से यह सिद्ध होता है कि वे लोग अपनी सम्पत्ति को सच मुच आपही समझते

हैं। पर कदाचित् यदि कितने अज्ञानी सच मुच शरीर को आत्माही समझते हों तथापि यह निश्चय है कि यह उन का भ्रम प्रत्यक्षरूप नहीं पर अनुमिति रूप है। अपने बिचार से वे यह ठहराते हैं कि शरीर के द्वारा आत्मा को सुख दुःख होते हैं इस लिये शरीर भी हमारा आत्मा है। मैं यह अनुभव आत्मीय प्रत्यक्ष से होता है पर उस में शरीरादिकों का ग्रहण नहीं हो सकता। फिर शरीरादिकों का ग्रहण नेत्रादि इन्द्रियों से होता है पर वे इन्द्रिय आत्मा का ग्रहण नहीं करते। इस लिये आत्मा और शरीर को मिलाना केवल अनुमान का काम है प्रत्यक्ष का नहीं। तो हम ने जो बात कही सो ठीक है कि मैं ऐसा जो आत्मीय प्रत्यक्ष है उस में अपने सिवाय दूसरे किसी का ग्रहण नहीं हो सकता। और न वह प्रत्यय भ्रम रूप हो सकता है। और जैसा मैं ऐसा आत्मीय प्रत्यक्ष दूसरे का ग्रहण नहीं कर सकता वैसेही अपने इच्छा सुख दुःख आदि गुण आत्मीय प्रत्यक्ष से दूसरे में नहीं भासते। क्योंकि हम कह चुके कि इच्छादि गुण आपही अपने प्रकाशक हैं सो वे जहां हैं तहीं भासेंगे दूसरे में उन का भास क्योंकर हो सकेगा। फिर जब कि मैं ऐसा आत्मीय प्रत्यक्ष का केवल आपही विषय हो सकता है तो

जो इच्छा सुख दुःखादिक दूसरे में भासेंगे उन के विषय में मैं चाहता हूं मैं सुखी हूं इत्यादिक आत्मीय प्रत्यक्ष कैसे होगा ॥

पर भला हम अपने इन तर्कों को छोड़के यदि तुम्हारी ही बात मानें कि जब हम हम ऐसा कहते हैं तो तुम्हारे उस अद्भुत पदार्थ को जिस का नाम तुम ने आत्मा रक्खा है अपने में मिलाते हैं तो तुम्हारे कहने के अनुसार यह हमारी भूल ठहरी तो तुम्हारे इस उपदेश से हम को वही बात और भी दृढ़ता से मान्नी पड़ी कि तुम्हारा वह कल्पित आत्मा हम तुम नहीं हैं। सो जब कि वह तुम्हारा कल्पित आत्मा हम तुम नहीं हैं तो उस से हम से क्या काम हम को तो अपनीही मुक्ति के लिये चिंता करनी है। और वह आत्मा तो न बद्ध हो सकता न मुक्त हो सकता है क्योंकि जिस को ज्ञान नहीं उस को दुःख भी नहीं हो सकता तब उस से मुक्त होना उस को कहां से होगा। और यदि इस अन्तःकरण ने उस को आप समझके अपनी इच्छा सुख दुःखों को भूल से उस पर रोपा तो इस से उस की क्या हानि है। यदि कोई मनुष्य आप ज्वरित होके भूल से समझे कि मैं ज्वरित हुआ हूं तो मुझे कौन चिंता है ॥

पर सच बात यह है कि यद्यपि सांख्यवाले एक ओर कहते हैं कि हम आत्मा के स्वरूप में ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदिक गुण नहीं मानते तथापि दूसरी ओर वे यह भी देखते हैं कि आत्मा में ज्ञान इच्छादिकों के माने बिना नहीं बनता। क्योंकि वे जानते हैं कि यदि आत्मा न जानता न चाहता न सुख दुःख भोगता है तो हम उस को बद्ध नहीं कह सकते तब उस की मुक्ति के लिये जो सब सांख्य शास्त्र का पसारा है उस का क्या काम ठहरेगा। इस लिये वे चाहते हैं कि ज्ञान इच्छादिकों को आत्मा के गुण न मानके भी किसी न किसी प्रकार से आत्मा को जान्नेवाला और चाहनेवाला और सुखी दुःखी ठहरावें इसी लिये कहते हैं कि ज्ञान इच्छादिक प्रतिबिंब रूप होके आत्मा में रहते हैं और इसी प्रकार से उस को ज्ञानादिकों का भोग देते हैं। पर हम कहते हैं कि ज्ञान इच्छादिकों का उपभोग लेना क्या वस्तु है यही कि जान्ना चाहना और सुखी दुःखी होना। पर ज्ञान इच्छादिक यदि केवल प्रतिबिंब रूप होके आत्मा में रहें तो उस करके वह जान्नेवाला और चाहनेवाला आदिक नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान इच्छादिक जान्नेवाले और चाहनेवाले के गुण हैं और केवल उसी संबंध से उस में रहते हैं जिस

संबंध से गुण गुणी में रहता है। यह बात स्वतःप्रकाशमान है कि ज्ञान इच्छादिक जान्नेवाले और चाहने वाले के गुण हैं। क्योंकि गुण वही कहलाता है जिस की अपने आश्रय से पृथक् होके स्थिति नहीं हो सकती वरन ऐसी स्थिति की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। जैसे हम कभी ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि रूप अथवा रस अथवा दीर्घता अथवा विस्तार अपने आश्रय से पृथक् होके स्वतंत्र रीति से रह सकते हैं। वैसेही हम इस की भी कल्पना नहीं कर सकते कि जान्ना और चाहना अथवा सुख दुःख जान्नेवाले और चाहनेवाले और सुखी और दुःखी से पृथक् होके स्वतंत्र रीति से रह सकते हैं। वरन ऐसे पदार्थ वंध्यापुत्र और शशशृंग के समान ठहरेंगे। सो यह निश्चित है कि ज्ञान इच्छादिक गुण हैं और इस लिये वे अपने आश्रय में केवल उसी संवन्ध से रहते हैं जिस से कि गुण गुणी में रहता है। पर प्रतिविंब तो ऐसे संबंध से अपने आश्रय में नहीं रहता। क्योंकि यह बात निश्चित है कि दर्पण में जो प्रतिविंब रहता सो संयोग संबंधही से रहता है। क्योंकि प्रतिविंब तो सूर्यादि किरणों का एक परिणाम विशेष है और सूर्यादि किरणों का दर्पण के साथ संयोग संबंधही है। सो जब कि प्रतिविंब आत्मा का गुण नहीं है

और न उस संबंध से आत्मा में रहता है जिस संबंध से गुण गुणी में रहता है तो वह एक बाह्य पदार्थ ठहरा और आत्मा में उस की स्थिति संयोगही से ठहरी। वह प्रतिबिंब केवल आत्मा का आधेय ठहरा और आत्मा उस का आधार ठहरा तथापि वह आत्मा के स्वरूप से पृथक् और बाह्य पदार्थही ठहरा। पर गुण तो अपने आश्रय के स्वरूप में निविष्ट और मानों उस में भागी होके रहता है। नैयायिक लोग गुण गुणी के संबंध को समवाय संबंध कहते हैं। पर उस समवाय संबंध का जो जो वर्णन उन के यहां है सो हम को ठीक नहीं जान पड़ता इस लिये हम उस संबंध को न समवाय कहते हैं न और कोई नाम रखते हैं न उस का बिस्तारपूर्बक वर्णन करने चाहते हैं। क्योंकि यह जो गुण गुणी के संबंध का बिषय है सो बड़ा गहन है इस लिये इस के संपूर्ण तत्व का वर्णन करना और सब प्रश्नों का उत्तर देना बड़ा कठिन है। पर सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सृष्टि में के सब विषय ऐसेही हैं तथापि हम को क्या करना चाहिये। यही कि जहां लों हमारा अनुभव हम को निश्चय देता है तहां लों हम को बोलना चाहिये और उस के विरुद्ध कोई बात न मान्ना चाहिये और जहां हमारी बुद्धि रुक जाती है तहां चुप हो रहना चाहिये। सो

यह वात अनुभव सिद्ध है कि गुण गुणी का जो संवंध है सो संयोगादि सकल संवंध से अत्यंत विलक्षण है वरन वह ऐसा कुछ संवंध है कि जिस करके गुण गुणी के स्वरूप में निविष्ट होके और उस का भागी होके रहता है। परन्तु जो वस्तु संयोगादि संवंध से किसी पर रहती है सो उस के स्वरूप में निविष्ट नहीं है। और यद्यपि वह उस के शरीर में घुस जाय तथापि वह उस के स्वरूप में निविष्ट नहीं होती। क्योंकि यद्यपि हम एक लाठी को लेके पृथिवी में गाड़ें तथापि वह पृथिवी के स्वरूप में निविष्ट न होगी वरन पृथिवी के भागों को हटाके और अपने लिये अवकाश वनाके उस में रहेगी। इस लिये यद्यपि वह लाठी देशतः पृथिवी के भीतर कहलावे तथापि स्वरूपतः उस से वाह्य है। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि रूप रस दीर्घत्व कठिनत्वादि गुण जो गुणी में रहते हैं सो और ही प्रकार से रहते हैं वे उस के स्वरूप में निविष्ट वरन उस में भागी होके रहते हैं क्योंकि हम गुण और गुणी के स्वरूपों की पृथक् स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते। वैसा ही यह निश्चित है कि ज्ञान इच्छादि गुण आत्मा में उसी प्रकार से रहते हैं। यदि ज्ञान इच्छादिक आत्मा के निज स्वरूप में न रहें तो आत्मा क्योंकर

जान्नेवाला और चाहनेवाला होगा। प्रतिविंब यद्यपि आत्मा में रहे वरन ऐसा उस में घुसके रहे जैसा चीनी पानी में तथापि वह केवल देशतः उस के अत्यंत निकट ठहरा परन्तु स्वरूपतः उस से वाह्य और ऐसा दूर है कि जैसे पूर्व पश्चिम से। तो भला उस के होने से आत्मा जान्नेवाला चाहनेवाला इत्यादि क्योंकर हो सकेगा। क्योंकि यदि उस ने अपने निज स्वरूप से न जाना तो आप न जाना और यदि आप न जाना तो उस ने जाना ही नहीं। यदि एक महा विद्यावान् पुरुष किसी मूर्ख को चिपक के बैठे वरन दृढ़ता से उस को लिपट भी जाय तो क्या इस्से वह मूर्ख भी विद्या का अनुभव कर सकेगा। यूरोपीय पण्डित जिन्हों ने श्रवण औ दर्शन आदि पदार्थों के तत्व की बहुत कुछ परीक्षा किई है कहते हैं कि जब मनुष्य किसी पदार्थ को नेत्र के द्वारा जानता है तो उस में ये बातें होती हैं कि प्रथम उस पदार्थ का प्रतिविंब प्रकाश के द्वारा नेत्र के तल में लिखा जाता है और उस के पीछे ज्ञान रज्जु हैं जो नेत्र से मगज लों पहुंची हैं सो उस प्रतिविंब से उन ज्ञान रज्जुन में कुछ कार्य उत्पन्न होता है और उन ज्ञान रज्जुन के द्वारा से मगज में कुछ कार्य हो जाता है। मगज से और हमारी चेतन शक्ति से ऐसा कुछ

अनिर्वाच्य संबंध ईश्वर ने रक्खा है कि मगज में उस कार्य के होतेही आत्मा को उस पदार्थ का ज्ञान होता है। अब यद्यपि हम नहीं बता सकते कि ईश्वर ने यहां किस प्रकार से जड़ और चेतन की गांठ बांधी है और किस प्रकार से जड़ वस्तु के द्वारा से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। पर इतना निश्चय करके जानते हैं कि प्रथम उस पदार्थ का प्रतिविंब नेत्र में होना यह आत्मा का जान्ना नहीं है और न उस प्रतिविंब के द्वारा से ज्ञान रज्जुन में कार्य होना वह वस्तु है और ज्ञान रज्जुन के द्वारा से मगज में कार्य होना भी आत्मा का जान्ना नहीं है। क्योंकि यद्यपि मगज से और चेतन शक्ति से बड़ाही निकट का संबंध है तथापि वह उस से पृथक् और बाह्य है। पर इन सब नेत्रादि पदार्थों के द्वारा जो आत्मा आप अर्थात् अपने स्वरूप से उस पदार्थ के स्वरूप का ग्रहण करता है उसी के विषय में कहा जाता है कि आत्मा उस को जानता है। सो तुम्हारे वे ज्ञान इच्छा कृति सुख दुःख की वृत्तियों के प्रतिबिंब यदि आत्मा के निज स्वरूप से बाह्य हैं तो वे आत्मा का जान्ना चाहना करना सुखी दुःखी होना नहीं हैं क्योंकि यद्यपि वे देशतः आत्मा के अत्यंत निकट हों तथापि स्वरूपतः आत्मा से इतना दूर हैं जितनी

पश्चिम पूर्व से है अथवा जितना मगज चेतन शक्ति से । सो इन बातों से यह सिद्ध हुआ कि सांख्य की रीति से आत्मा न जानता न चाहता न करता न सुखी दुःखी होता है तो फिर किस को मुक्त करने के लिये सांख्य शास्त्र का पसारा है ॥

पर इस का ठीक उत्तर वही है जो सांख्यवाले आप मान लेते हैं जैसा ६२ बासठवीं सांख्य कारिका में लिखा है कि सचमुच प्रकृति ही बद्ध और मुक्त होती है । तथापि वे लोग पुरुष को भी किसी न किसी प्रकार से संसार में फंसा हुआ ठहराने के लिये कहते हैं कि पुरुष पर बंध मोक्ष का आरोप होता है । पर यह उन की बात अत्यंत बे ठिकाने की है और जिस अर्थ के लिये वे इस बात को कहते हैं वह अर्थ इस से नहीं सिद्ध होता । क्योंकि उन के सिद्धांत के अनुसार पुरुष पर बंध मोक्ष का आरोप करना भी तो प्रकृति ही का सचमुच काम है यद्यपि सांख्यवालों के इस विषय में निरुपाय होने से उन के मुख से ऐसी बोली निकलती है कि मानों पुरुष आप अपने पर यह आरोप करता है। पर यह बात उन्हीं के सिद्धांत के विरुद्ध है । सो यदि प्रकृति भूल करके पुरुष पर बंध मोक्ष का आरोप करे तो इस में पुरुष की क्या हानि हो सकती है। सो वही बात

सच ठहरती है जो हम ने पहिले कही कि सांख्यवालों का जो अंतःकरण है सोही हम तुम हैं पर उन का जो कल्पित आत्मा है उस से हम से कुछ संबंध नहीं वरन वह कुछ पदार्थही नहीं सिद्ध हो सकता । सो सांख्यवालों की दशा उस चतुर बढ़ई के समान है जिस ने औरों की बनाई लकड़ी की पुतली को बेडौल और भद्दी जानकर चाहा कि मैं इस को सुन्दर और सुकुमार बनाऊंगा और उस को तराशते २ यहां तक सूक्ष्म किया कि वह वायुरूप हो गई तब कहा कि हां अब यह बहुत सुकुमार और निर्दोष बनी ॥

यहां हम एक बात कहने चाहते हैं कि सांख्यवाले जो ज्ञान इच्छादिकों को प्रतिबिंब २ करके पुकारते हैं इस से कोई यह न समझे कि इस प्रतिबिंब शब्द से उन का अभिप्राय वही है जो हम सभों का है । कि मानों वे प्रतिबिंब शब्द को केवल लाक्षणिक समझते हैं और यह मानते हैं कि आत्मा को सचमुच घट आदि पदार्थों के विषय में ज्ञान और इच्छा होती हैं और उन्हीं ज्ञान और इच्छादिकों की उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि मानों वह घटादि विषयों का आत्मा में प्रतिबिंब है । कोई न जाने कि सांख्यवालों का यह अभिप्राय है यदि ऐसाही वे कहते तो उन के

और हमारे कहने में क्या भेद रहता । और यदि उन का हमारा अभिप्राय एकही होता तो हम केवल शब्द पर झगड़ा न करते क्योंकि हम तो आप मान लेते हैं कि आत्मा का रूप ऐसा गहन है कि उस के योग्य हमारे पास शब्द नहीं हैं । और इस लिये हम सभों को केवल उन शब्दों को लेना पड़ता है जो कि अनात्म वस्तुओं के बोधक हैं और उन्हीं से गौणार्थ में आत्मीय वस्तुओं का वर्णन करना पड़ता है । जैसे हम कहते हैं कि आत्मा का रूप अथवा स्वरूप पर उस से हमारा तात्पर्य नहीं है कि आत्मा में कोई रक्त पीत आदि लोकप्रसिद्ध रूप है । यदि सांख्यवाले ज्ञान एच्छादि गुणों को सचमुच आत्मा के गुण करके मानते और केवल आत्माही के गुण मानते तो नैयायकों से उन की अधिकता किस बात में ठहरती । और तब उन का वह अहंकार कहां रहता कि नैयायकों की दृष्टि केवल स्थूल और बाह्य है क्योंकि यद्यपि उन्हों ने शरीर और इन्द्रियादिकों से आत्मा को भिन्न समझके केवल नास्तिक और लौकिक पुरुषों से अधिक बुद्धि प्रगट किई तथापि उन्हों ने आत्मा को ज्ञान इच्छा कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त मानकर अन्तःकरण ही को आत्मा ठहराया और इस प्रकार से आत्मा के निज स्वरूप तक न

पहुंचे। सांख्य लोग तो चाहते हैं कि ज्ञान इच्छादि गुणों की छूत भी आत्मा को न होने देवें पर उस को उन से रहित और शुद्ध ठहरावें। इस लिये यह बात निश्चित है कि वे प्रतिबिंब शब्द से आत्मा का गुण नहीं समझते॥

हम वेदान्त के विचार में दिखावेंगे कि यद्यपि वेदान्ती जगत् को मिथ्या समझते हैं तथापि जगत् की अनिवार्य सत्यता वरवस उन के मुख से वार २ ऐसी वातें निकलवाती है कि मानों वे जगत् को सत्यही समझते हैं। वैसेही आत्मा में ज्ञान इच्छा कर्तृत्व सुख दुःख हैं यह वात तो स्वतः प्रकाशमान और अनिवार्य है इस लिये यद्यपि सांख्यवाले यह समझते हैं कि आत्मा में वे गुण नहीं हैं तथापि उन के मुख से आप से आप वार २ ऐसी वातें निकलती हैं कि मानो वे उन गुणों को आत्मा में मानतेही हैं। और विना माने कभी वनेगाही नहीं और सचमुच वे मानतेही हैं पर वे आप अपने मन के निश्चय को नहीं जानते पर धोखा खाके समझते हैं कि हम नहीं मानते और उस न मान्ने को सिद्ध करने के लिये जो अद्भुत तर्क ले आते उस में उन की अत्यंत विरुद्धता और भूल प्रगट होती है। इस लिये हम इस ग्रन्थ के पढ़नेवाले से विनती करते हैं कि यदि

उस को सांख्य के ग्रन्थों में कई एक ऐसे बचन देख पड़ें जो हमारे वर्णन से विरुद्ध हों तो वह झट पट हम पर दोष न लगावे पर सांख्यतत्त्व कौमुदी ऐसे सांख्य के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ को संपूर्ण शब्द २ अक्षर २ करके पढ़े और उस का तात्पर्य समझे और तब यदि हमारी बात में कोई विरुद्धता देख पड़े तो हम स्वीकार करने को सिद्ध हैं॥

सांख्यवाले जो आत्मा को ज्ञान इच्छादिकों से रहित करने के लिये ऐसा बड़ा परिश्रम करते हैं सो इस लिये है। वे समझते कि यदि हम आत्मा के निज स्वरूप में ज्ञान इच्छा सुख दुःखादिक गुण मानें तो वह उस का स्वभाव ही ठहरेगा और जिस का जो स्वभाव है सो दूर नहीं हो सकता। इस लिये ज्ञान इच्छा सुख दुःखादिक भी आत्मा से दूर न होंगे तब उस की मुक्ति कैसे होगी। क्योंकि इस देश के सब पण्डितों की दृष्टि में बिना जड़ रूप भये मुक्ति नहीं हो सक्ती। और मुक्ति में दुःख का दूर होना तो आवश्यक ही है॥

अब हम कहते हैं कि यद्यपि यह कल्पना ठीक भी हो कि बिना ज्ञान के खोये मुक्ति नहीं होती और यदि दुःख आत्मा का गुण हो तो वह कभी दूर न हो सकेगा तथापि यह योग्य नहीं है कि इस

भीति से जो वात सचमुच एक प्रकार की है उस को मिथ्या तर्कों से और प्रकार की बताना अर्थात् ज्ञान इच्छादिक गुण जो सचमुच आत्मा में हैं उन के विषय में वरवस यह कहना कि वे नहीं हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य मरनेवाला है पर क्या इस मरण के भय से हम अपने को जो सचमुच मनुष्य हैं कहें कि नहीं हैं और क्या इस से मरण से भी वच सकेंगे। सो यदि तुम्हारी समझ में ज्ञान इच्छादिक जिस के गुण हैं उस को यह घोर अनिष्ट भोगना है कि वह कभी ज्ञानादिकों से रहित न होगा तो वुद्धि का काम यह है कि इस में निरुपायता देखके चुप हो रहो न कि वरवस वस्तु को अवस्तु करने लगो। पर सच वात यह है कि पण्डितों की यह कल्पना निर्मूल है कि विना ज्ञान के खोए मुक्ति नहीं हो सकती। और सांख्य का यह कहना व्यर्थ है कि दुःख जिस का गुण है वह कभी दुःखरहित न हो सकेगा। क्योंकि दुःख के कारण दूर होने से दुःख दूर होता है और सर्वशक्तिमान परमेश्वर जिस पर अनुग्रह करेगा उस के विषय में ऐसा कर सकेगा इस का प्रतिपादन हम न्याय शास्त्र के विचार करने में करेंगे॥

५ पांचवां अध्याय।

जिस में मीमांसा शास्त्र की एक बात का थोड़ा सा विचार और
यहां के पण्डितों की बुद्धि का और उन की तर्क
करने की रीति का कुछ वर्णन है॥

मीमांसकों की बड़ी भूल इन बातों में है कि वे ईश्वर को नहीं मानते और ईश्वर को न मानके भी धर्माधर्म का बिभेद मानते और क्रिया कर्म्मों का बोझ मनुष्यों के शिर पर रखते और वेद का कोई कर्त्ता नहीं मानते हैं। पर इन तीनों बातों का विचार सांख्य की परीक्षा में होचुका। और यद्यपि वेद के विषय में मीमांसक सांख्य वालों से भी यह बात अधिक बढ़के कहते हैं कि वेद अनादि है तथापि जिस बात से वेद का कर्त्ता न होने का मत खण्डित होता है उस्से उस के अनादि होने का मत भी खण्डित होता है। इस लिये अब मीमांसा की केवल एक बात की थोड़ी सी चर्चा करते हैं। और वह बात यह है॥

मीमांसा का वेद को अन्त्यत प्रमाण करके समझना और तिस पर भी उस में की सब देवताओं और उन की कथाओं को किस्सा कहानी ठहराना वैसे ही इन्द्र के न रहते भी इन्द्र के नाम से अर्पण

करने को महा फलदायी समझना आश्चर्य की बात है। भाइयो हम तो वेद की बातों को नहीं मानते और विशेष करके उस में के देवताओं को सच नहीं जानते। परन्तु जिस के मन में कुछ भी विवेक का अंश बाकी हो और यदि वह वेद को पढ़े तो क्योंकर कह सकेगा कि जिन्हों ने इन्द्रादिकों के नाम से वेदों के सूक्त बनाए वे आप उन देवताओं को सच न समझते थे। फिर किस की समझ में यह बात आ सकती कि झूठी देवता पूजी जाय और कुछ नहीं की स्तुति किई जाय और बड़े बड़े फलों की प्राप्ति के लिये शून्य से प्रार्थना किई जाय॥

मीमांसक ऐसी अचंभे की बात को जो मानते हैं इस का कारण यह है। वे कहते हैं कि सारा बखेड़ा फल की प्राप्ति के लिये है और वह फल कर्म के अधीन है और कर्म का ज्ञान वेद के विधि वाक्य से होता है। तो इन तीन बातों को मानो और का क्या काम। इस लिये विधि वाक्य को सच समझना फिर वेद में की और बातें झूठ ठहरें तो हमारी क्या हानि है। और यदि कर्महो से फल होता है तो उसी को थांभो देवता आदिकों से हम को क्या काम। फिर यदि कर्महो चित्र विचित्र फलों का उत्पादक है तो जैसे बीज में अंकुर उत्पन्न

करने की स्वाभाविक शक्ति है वैसेही कर्म में भी स्वाभाविक शक्ति मान्ने से हम सारे संसार के वर्त्ते का निर्बाह कर सकते हैं तव ईश्वर की भी क्या आवश्यकता । ऐसे ऐसे विलक्षण तर्कों का खंडन करना कुछ आवश्यक नहीं । उन की चर्चा करनाही उन का खंडन है । तथापि धर्माधर्म के विषय में पण्डितों की जो भूल है उस का कुछ वर्णन हम पीछे से करेंगे तव उस में मीमांसकों के इन तर्कों का उत्तर हो जायगा ॥

यही सव सांख्य योग और मीमांसा के मुख्य २ सिद्धान्तों की परीक्षा है जो इस अध्याय में और तीसरे और चौथे अध्याय में किई गई । जिस मनुष्य का स्वाभाविक विवेक नष्ट नहीं हुआ है वह यदि सांख्य मीमांसा की ये वातें देखेगा तो उस को प्रगट होगा कि पण्डित लोगों की तर्क करने की रीति कैसी कच्ची है और यदनपि न्याय और वैशेषिक शास्त्र की वातें इन से बहुत अच्छी हैं तथापि यहां के पण्डितों की वुद्धि का जो साधारण दोष है सो उन में भी है यह वात न्याय और वैशेषिक की परीक्षा में प्रगट होगी ॥

पण्डित लोगों की वुद्धि में यह एक बड़ी दुर्बलता देख पड़ती है कि जो वातें स्वतःप्रकाशमान हैं उन के विषय में भी उन को भ्रम होता है । जव किसी

की यह दशा भई तब उस को समझाना अत्यन्त कठिन है । यदि किसी मनुष्य को यह सन्देह हो कि मनुष्यों के हाथ और पावों की अंगुलियां सब मिलाके बीस हैं अथवा नहीं तो ऐसे संदेही का कौन बोध कर सकेगा । पर भला कदाचित् एक २ करके उस को सब गिनके दिखाई जावें पर तथापि यदि वह संदेह करके कहे कि इस प्रकार से एक २ करके गिन्ने से जो बीस होती हैं वे सचमुच बीसही हैं यह मैं कैसे निश्चय करूं तो ऐसे मनुष्य का समाधान करने की कुछ भी आशा नहीं है । ऊपर जो हम ने सांख्य और मीमांसा की कितनी बातें दिखाईं सो ऐसीही हैं इस लिये उन का उत्तर देना कठिन होता है । तथापि हम ने कुछ प्रयत्न करके उत्तर दिये हैं । और वे उत्तर यद्यपि बहुत स्पष्ट हैं तथापि यहां के लोगों के स्वभाव को हम कई बार के अनुभव से जानते हैं कि उन उत्तरों की स्पष्ट बातों को भी वे नहीं समझ सकते और इस का सत्य कारण यह है कि वे समझने चाहते नहीं । सो जो लोग ऐसे हैं उन के विषय में हम बुद्धि की राह से तो सर्वथा निराश हैं। पर परमेश्वर से उन के लिये भी प्रार्थना करते हैं । क्योंकि जो मनुष्य को अशक्य है सो भी उस को शक्य है ॥

पण्डितों की बुद्धि की यह भी एक दुर्बलता है कि वे जिन विषयों को विचारने चाहते हैं उन के विषय में पहिले अपना मन स्थिर करके यह नहीं विचारते कि इन बातों में हमारा और जगत का ठीक २ अनुभव क्या है। परन्तु इस बात में उन की बुद्धि ऐसी कुछ मोहित होती है और अपने इष्ट मत के पक्षपात से उन की विचार दृष्टि ऐसी एक देशी हो जाती है कि वे निर्मूल नियमों को बड़ा पूर्ण नियम समझते और अपूर्ण दृष्टान्तों को प्रमाण ठहराते हैं और उन के अनुसार से तर्क करने लगते और यह नहीं बिचारते कि ये तर्क प्रबल हैं अथवा दुर्बल हैं और उन के विरुद्ध भी दूसरे तर्क हैं अथवा नहीं। और एक बात से दूसरी बात स्थापित करते जाते हैं यद्यपि वे कैसी भी बेठिकाने की क्यों न हों॥

फिर और एक उन की बुद्धि का दोष यह भी है कि वे पहिले यह नहीं बिचारते कि कौन बातें मनुष्यों की बुद्धि की सीमा के भीतर हैं और कौन बाहर हैं पर वे इस परिमित मानुष बुद्धिही के सूत्र से परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति की सब गहन और गंभीर बातों को भी नापने चाहते हैं और उन की इयत्ता ठहराने चाहते हैं। तो जो कोई ऐसा करने चाहेगा वह अवश्य ठोकर खावेगा॥

पर वे लोग जो स्वाभाविक विवेक का पीछा करते हैं सो बहुधा ऐसी २ भूलों से बचे रहते हैं। स्वाभाविक विवेक वह पदार्थ है जो प्रायः सब मनुष्यों में रहता है। और इसी की सहायता से अपढ़े और ग्राम्य जन भी अपने नित्य व्यवहार में सत् और असत् का और हित और अहित का निर्णय कर सकते हैं। परन्तु उस का पीछा छोड़के जब कोई चाहता है कि बड़े २ तर्कों को ल्याकर अपनी इष्ट बात को सिद्ध करे तो ऐसी भूल के जंगल में भटकने लगता है कि उस को आकाश नीचे और पृथिवी ऊपर दिखाने लगती है। सो उस स्वाभाविक विवेक का पीछा करने की यहां के पण्डितों की रीति नहीं है इस लिये ऐसे चमत्कारी सिद्धान्त उन को सूझ पड़ते हैं॥

उन के तर्क करने की रीति पर यह एक दृष्टांत हमें सूझता है। दो मनुष्य यात्रा करते थे। उन्हों ने एक दिन आपुस में ऐसा पण किया कि एक दूसरे को कहने लगा कि देख कल मैं बड़े तड़के उठकर तुझ से पहिले मंजिल पर पहुंचूंगा। सो ऐसा हुआ कि दूसरे दिन उन में से एक ने उठके देखा कि मेरा संगी तो अभी सोता है सो बहुत हर्षित होके पगड़ी अंगा पहिन गठरी बांध वहां से

चला। एक भूल उस्से हुई कि जल्दी में अपनी पगड़ी छोड़के अपने संगी की पगड़ी पहिन लिई। सो बड़े वेग से चलके मंजिल पर पहुंचा और देखा कि मेरे संगी का अब लों पता नहीं है। जब बैठके गठरी खोली और अर्सी निकालके अपना मुख देखा तो क्या देखता कि मेरे संगी की पगड़ी मेरे सिर पर है तो तुरंत अर्सी को नीचे पटकके हाय हाय करने लगा कि देखो मैं ने इतना परिश्रम किया कि उस्से पहिले मंजिल पर पहुंचूं पर अन्त को वही पहुंचा। उस के बिलाप को देखके एक जन आकर उसे समझाने लगा कि अरे यह तू क्या करता है तू तो साक्षात् आपही बैठा है और कैसे कहता है कि अंत को वही आया। देख ऐसे अंधेर की बात कहीं हो सकती है कि तेरा अहंप्रत्यय दूसरे में जाय। पर वह एक भी नहीं मानता। उस ने यह नियम देखा था कि जिस के सिर पर यह पगड़ी है वह वही है सो उस नियम के अनुसार उस ने यह सिद्धांत ठहराया कि जब कि यह पगड़ी मेरे सिर पर है तो मैं वही हूं और जब से मैं ने पिछले मुकाम को छोड़ा तब से जो मैं अपने को आप करके समझ रहा था सो केवल भ्रम था॥

यहां षड्दर्शन दर्पण का प्रथम भाग समाप्त भया॥

२ दूसरा भाग

जिस में न्याय और वैशेषिक की परीक्षा है ॥

१ प्रथम अध्याय ।

जिस में थोड़ी सी भूमिका और न्याय वैशेषिक का जो ईश्वर विषयक मत है उस की परीक्षा है ॥

अब हम न्याय और वैशेषिक शास्त्रों का विचार करते हैं। पर हम ने आगे दिखाया है कि शास्त्रों में बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं कि जो प्रायः सभों में समान हैं इस लिये न्याय और वैशेषिक शास्त्रों का विचार करने में जो जो सिद्धान्त इन में और दूसरे शास्त्रों में समान हैं उन के विषय में दूसरे शास्त्रों का भी विचार हो जायगा ॥

हम ने आरंभ में कहा कि प्रायः सब दर्शनकर्त्ता अपने २ दर्शनों के लिखने का मुख्य प्रयोजन निःश्रेयस प्राप्तिही प्रगट करते हैं। और न्याय और वैशेषिक सूत्र के आरंभ में यह बात स्पष्ट करके कही है। इस बात को तो हम प्रशंसा के योग्य समझते हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित और सब बातों से अधिक आवश्यक है कि सर्व प्रयत्न से

निस्तार के उपाय का खोज करें। परन्तु वे लोग ज्ञानही को जो निस्तार का मुख्य कारण समझते हैं इस में हमारी सम्मति नहीं है। हमारी समझ में केवल ईश्वर का स्वतंत्र अनुग्रह ही निस्तार का मुख्य कारण है। तथापि इतना हम मान लेते हैं कि निस्तार के लिये ज्ञान उपयोगी है। परन्तु जैसा दर्शनकार कहते हैं कि केवल आत्मानात्म विवेक रूपी ज्ञान मुक्ति के लिये लाभदायक है सो हम नहीं मानते क्योंकि केवल उतनेही ज्ञान से कुछ लाभ नहीं हो सकता। इस का उपपादन हम पीछे से करेंगे। परन्तु जिस ज्ञान को हम लाभदायक समझते हैं सो यह है कि ईश्वर का ज्ञान अपना और अपनी दुर्दशा का ज्ञान और उस से छूटने के उपाय का ज्ञान और मनुष्य के कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान। इस कहने में हमारा यह तात्पर्य नहीं कि इन पदार्थों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। क्योंकि वह तो मनुष्य को अनहोना है परन्तु यह कि जितना आवश्यक और लाभदायक है उतनाही प्राप्त करना चाहिये। ईश्वर विषयक ज्ञान ऐसा हो कि जिस के प्राप्त करने से मनुष्य के मन में ईश्वर का आदर प्रेम भक्ति और भीति उत्पन्न होवें और उस के कारण से मनुष्य का स्वभाव सुधरे और उस को धर्म पर

रुचि और पाप पर घृणा उत्पन्न होवें। वैसेही मनुष्य को अपना ज्ञान इतना चाहिये कि वह अपने पद को जाने और जैसा उसे अपने को परमेश्वर के साम्हने मान लेना चाहिये वैसा मान ले और जो उस का परमेश्वर के साथ संबंध है और जो मनुष्यादिकों के साथ संबंध है उस को जाने और उन दोनों संबंधों के समान काम करने का अधिकार उस को मिले। और अपनी दुर्दशा को जानके उस्से छूटने की चिंता उस को होवे और उस का योग्य उपाय जानके उस का अवलम्ब करे। परन्तु इन पदार्थों का शुद्ध और यथार्थ वर्णन न्याय आदिक दर्शनों में नहीं है परन्तु उस में बहुत सी भूल चूक मिली हैं॥

देखो ईश्वर के जो गुण हैं जैसे महत्त्व शक्ति ज्ञान पवित्रता न्याय आदिक उन का कैसा अत्यंत अयोग्य वर्णन न्याय और वैशेषिक शास्त्र में देख पड़ता है॥

वे ईश्वर के सिवाय जीव परमाणु मन आदिक अनेक पदार्थों को अनादि मानते हैं कि वे ईश्वर के समान आप से आप सदा काल से बने हैं उन को किसी ने उत्पन्न नहीं किया। इस बात से वे ईश्वर के महत्त्व और स्वतंत्रता और प्रभुता में कैसी न्यूनता डालते हैं। नैयायिकों के मत से जीव और

परमाणु अनन्त हैं कि उन की कुछ गिनती नहीं है और यदि ये पदार्थ अनादि काल से आप से आप हैं तो प्रगट है कि उन का होना ईश्वर की इच्छा के अधीन नहीं है । जैसे ईश्वर की इच्छा से वे भये नहीं वैसेही उस की इच्छा से वे मिट भी नहीं सकते। ईश्वर चाहता तो क्या और न चाहता तो क्या उन के होने में कुछ अदल बदल न हो सकती और न हो सकेगी तो इस में ईश्वर की स्वतंत्रता और सर्वप्रभुता कहां रही । स्वतंत्रता और सर्वप्रभुता उस को कहते हैं कि जो कुछ होवे सो उसी की इच्छा से अथवा अनुमति से होवे और ऐसा कुछ भी न होवे जो सर्वथा उस की इच्छा के अधीन न होवे। जीव और परमाणु आदिकों की अस्ति यदि ईश्वर की इच्छा के अधीन नहीं है तो उस अस्ति पर ईश्वर की प्रभुता नहीं है। तब ईश्वर ईश्वर कैसे ठहरेगा ईश्वर तो वह है जो सब के ऊपर हो ॥

इस बात पर पण्डित लोगों को कई शंका होती हैं। वे कहते हैं कि यदि हम परमाणु को अनादि न मानें तो सृष्टि की उत्पत्ति में क्या कारण बता सकेंगे। क्योंकि हर एक कार्य को उपादान कारण चाहिये । जैसे घट के लिये मृत्तिका। यदि मृत्तिका न हो तो कुम्हार काहे से घट को बनावेगा।

इसी प्रकार से परमाणु को लेकर ईश्वर भी जगत को वनाता है पर विना उन के जगत कैसे वनेगा। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि क्या कुम्हार की शक्ति के समान ईश्वर की शक्ति भी तुम समझते हो । यदि उन दोनों की शक्ति को समान ही ठहराओ तो यह भी कहो कि जैसे कुम्हार को घट वनाने के लिये हाथ पांव और दूसरे कितने शस्त्र आवश्यक हैं वैसे ही ईश्वर को भी हैं और यदि इस वात को मान लेते हो कि ईश्वर विना हाथ पांव हिलाये और विना शस्त्रों की सहायता के केवल इच्छा से सृष्टि को वना सकता है तो इस वात के मान्ने में क्या कठिनता है कि वह उपादान के विना सृष्टि कर सकता है वह समस्त सृष्टि को अपनी अचिन्त्य शक्ति से उस के सव उपादान और उपादेय समेत उत्पन्न कर सकता है। यदि कहो कि यह वात तो मन में नहीं आ सकती तो हम पूछते हैं कि क्या यह वात मन में आ सकती है कि विना हाथ पांव हिलाये केवल इच्छा करने से कार्य्य उत्पन्न हो जायें। सारी सृष्टि में ऐसा कोई भी चतुर कारीगर है जो केवल मन में ले आने से अपने कार्य्य को उत्पन्न करे। पर यदि कोई कहे कि हां यह वात तो मन में आ सकती है कि विना हाथ पांव लगाये कुछ

कार्य्य कर सके । क्योंकि हम देखते हैं कि हमारा जो जीव है उस के स्वरूप में हाथ पांव नहीं हैं तथापि वह केवल इच्छा से शरीर के हाथ पांवों को उठाता है वैसे ही ईश्वर भी इच्छा से पृथिव्यादिकों को चला सकता है । तो हम कहते हैं कि यह एक दृष्टान्त तुम ने कहा पर मन में आने की कोई राह न दिखाई । क्योंकि यद्यपि इतना हम जानते हैं कि जीव केवल इच्छा से हाथ पांवों को उठाता है पर तो भी यह कहां मन में आता कि यह किस प्रकार से होता है । इच्छा जो एक अदृश्य और अस्पर्श पदार्थ है जो रस्सी के समान नहीं है जिस्से किसी वस्तु को खींच सकें जो न लाठी के समान है जिससे बस्तु को ऊपर नीचे ढकेल सकें उस से और हस्त पादादि जड़ पदार्थों से कैसा संबंध होता है और वह उन को किस प्रकार से उठाती और नीचे गिराती है यह बात किस के मन में आ सकती है । सो यदि ईश्वर की सृष्टि में की बातें हमारे मन में नहीं आतीं तो उस की अचिंत्य शक्ति की सीमा हम कैसी ठहरा सकें । फिर जीव के हाथ पांव हिलाने की बात यहां दृष्टान्त भी नहीं हो सकती क्योंकि हाथ पांव तो जीव के शरीर हैं पर पृथिव्यादिक ईश्वर के शरीर नहीं हैं । सो जो अपना शरीर

नहीं है उस में केवल इच्छा से कार्य्य करने की बात की कठिनता तो जैसी की तैसी ही है। और पृथिव्यादिकों को ईश्वर का शरीर तो तुम नहीं कह सकते क्योंकि शरीर के जो गुण और स्वभाव हैं उन को पृथिवी आदिकों में नहीं मान सकते। जैसे कि शरीर के द्वारा जीव में अनेक विकार होते हैं पर उन को ईश्वर में नहीं मान सकते। सो ऐसे ऐसे अनेक शरीर के लक्षण जब कि पृथिवी आदि में नहीं हैं तो यदि उन को ईश्वर का शरीर ऐसा नाम देओ भी तथापि हमारा शरीर उन का दृष्टान्त नहीं होगा। यदि कोई कहे कि तुम ने नास्तिक मत का खण्डन करते समय जीव के अपनी इच्छा से हाथ पांव हिलाने की बात को ईश्वर के अदृश्य होके अपने कार्य्य करने की बात का दृष्टान्त ठहराया था सो अब क्यों कहते हो कि यह उस का दृष्टान्त नहीं हो सकता। तो हम कहते हैं कि हम ने उस समय उस बात को इस लिये दृष्टान्त ठहराया था कि यदि कोई इस को सर्वथा अन होना समझे कि कोई अदृश्य व्यक्ति दृश्य कार्य्य को कर सके तो उस को दिखावें कि यह बात अनहोनी नहीं है क्योंकि जीव तो प्रति दिन ऐसा करते हैं। और इतनी बात के लिये वह दृष्टान्त अच्छा है। पर इस समय

हम कहते हैं कि यह दृष्टान्त दार्ष्टान्त की बात को मन में ला देने के लिये व्यर्थ है क्योंकि जैसे दार्ष्टान्त वैसे दृष्टान्त भी हमारी समझ के बाहर है वरन इस काम के लिये यह पूर्ण दृष्टान्त भी नहीं है। सो हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि जब सब पदार्थों की ईश्वर के अनन्त और अचिन्त्य सामर्थ्य से उत्पति मान्ने में कुछ बाध नहीं है तो वह मत जो अनन्त पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता और अनादिता को मानके ईश्वर की परम स्वतंत्रता और पूर्ण प्रभुता में न्यूनता डालता है सो दूषित है॥

जीवों को ईश्वर ने उत्पन्न किया इस बात के मान्ने में और दो दोष पण्डित लोग समझते हैं एक तो यह कि ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य प्राप्त होगा और दूसरा यह कि जीवों को उत्पत्तिमान् मान्ने से विनाशवान् भी मान्ना पड़ेगा पर इस बात का उत्तर हम आगे चलके देंगे॥

फिर न्याय और वैशेषिक का जो यह मत है कि ईश्वर सृष्टि आदिक जो कुछ काम करता है सो केवल जीवों के कर्म का फल उन को देने को करता है और अपनी स्वतंत्र इच्छा से कुछ भी नहीं करता सो भी अयोग्य है। ईश्वर को ऐसे बन्धन में समझने का क्या कारण है। जान्ना चाहना और करना ये

तो चेतन पुरुष के स्वाभाविक धर्म हैं। और यदि ईश्वर भी चेतन पुरुष है तो उन के विषय में ऐसा समझना हम को योग्य जान पड़ता है कि वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से जो चाहे सो कर सके। इस पर पण्डित लोग कहते हैं कि यदि हम ऐसा मानें कि ईश्वर विना जीवों के कर्म की अपेक्षा के अपनीही इच्छा से सृष्टि आदिक कार्य्य करता है तो यह दोष आवेगा कि ईश्वर को कुछ किसी बात का अभिलाष था जिस के पूर्ण करने के लिये उस ने सृष्टि को बनाया। परन्तु जब जीवों के कर्मों के अनुसार सृष्टि को मानते हैं तो यह सिद्ध होता कि ईश्वर को आप किसी वस्तु का अभिलाष न था परन्तु केवल हर एक के कर्म का योग्य फल देने के लिये सृष्टि बनाता है। इस का उत्तर हम देते हैं कि हम भी नहीं कहते कि सृष्टि के बनाने में ईश्वर को किसी बात का अभिलाष था ऐसा कि उस को किसी वस्तु की न्यूनता थी जिस के प्राप्त करने के लिये उस ने सृष्टि को बनाया हो परन्तु यह कहते हैं कि यह एक उस के स्वभाव की उत्तमता है कि सृष्टि आदि के द्वारा से अपने परम सुन्दर और आश्चर्य्यमय गुणों को प्रगट करे। क्योंकि यद्यपि तुम यह मानो कि जीवों के शुभ अशुभ कर्म के फल देने को ईश्वर

सृष्टि आदिक काम करता है तौ भी उस पर यह शंका आवेगी कि ईश्वर को क्या काम पड़ा है जो वह जीवों के कर्मों का फल देवे । यदि कहो कि यह उस के न्यायी स्वभाव का धर्म है कि वह हर एक के कर्म का फल उस को देवे तो हम कहते हैं कि यह भी एक उस के स्वभाव की उत्तमता है कि वह अपने परम सुन्दर गुणों को प्रगट करे और जीवों को उत्पन्न करके उन को अपने गुणों से आल्हादित करे । इस बात में हर कोई विवेक कर सकता है कि केवल गर्व के कारण लोगों के मुख से अपनी बड़ाई सुन्ने की तृष्णा के वश होकर अपनी बड़ाई दिखाते फिरना और वस्तु है और किसी उत्तम वस्तु की उत्तमता प्रगट करने को योग्य और उत्तम बात समझके उस को प्रगट करना औरही वस्तु है । जब कोई लघुस्वभाव मनुष्य गर्व से अपनी बड़ाई दिखाते फिरता है तब उस पर सब कोई हंसता है । पर यदि कोई साहेब इंग्लिस्तान से बड़े अद्भुत यंत्र इस देश में ले आवे और यहां के लोगों को अपने घर पर बुला बुलाके उन में के आश्चर्य्य उन को सेंत से दिखलावे तो कोई इस में उस पर न हंसेगा वरन हर एक उस साहेब के बड़े उपकार मानेगा कि उस ने हम को अपने घर बुलाकर और परिश्रम

करके ऐसी ऐसी अच्छी वस्तें संत से दिखाईं । सो इस प्रकार से जो वस्तु उत्तम है उस का प्रगट करना दोष नहीं वरन यह भी एक उत्तमता है । इस लिये परमेश्वर भी अपने स्वभाव की उत्तमता ही के कारण से अपने सुंदर और आश्चर्यमय गुणों को सृष्टि आदि के द्वारा से प्रगट करता है । वरन ऐसे रमणीय और आल्हादकारक गुणों का सदा गुप्त रहना ही बड़ी अयोग्य बात ठहरती ॥

अब यदि हम विचारें कि न्याय और वैशेषिक मत में ईश्वर के न्याय गुण का कुछ प्रकाश है अथवा नहीं तो यदि हम ऊपर ऊपर से विचार करें तो यह देख पड़ेगा कि जब वे ईश्वर को जीवों के कर्मों के अनुसार फल देनेहारा मानते हैं तो न्याय गुण का ठीक वखान उन के यहां है । और जब वे कहते हैं कि इस संसार में थोड़ा थोड़ा भी जो दुःख होता है उस का कारण भी पाप ही समझना चाहिये और इस लिये पूर्व जन्म भी मान्ना चाहिये नहीं तो ईश्वर के न्याय में बट्टा लगेगा तो इस से जान पड़ता है कि वे अपनी समझ में ईश्वर के न्याय गुण को अत्यंत पूर्णता से मानते हैं । परन्तु यदि हम उन की बातों को अच्छी तरह से विचारें तो देखो इस विषय में भी उन के यहां कैसा अंधकार

देख पड़ता है। हम ने पहिले कहा है कि दर्शनों में वेद स्मृति पुराणादिकों का प्रामाण्य माना है। तो जो कुछ वेद स्मृति पुराणादिकों में ईश्वर के न्याय पवित्रता आदि गुणों का अशुद्ध वर्णन है उस के दोष में शास्त्र भी भागी होते हैं। मत समझो कि इस प्रकार से हम इधर उधर से खींच खांचके शास्त्रों पर दोष लाया चाहते हैं। क्योंकि ऐसाही हर बात का जब पूर्ण विचार किया जाता है तभी उस का गुप्त रूप प्रगट होता है। क्योंकि ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं जो इतना न जानता हो कि परमेश्वर न्यायी और पवित्र है। इस लिये मनुष्यकृत मत में यदि ऐसी बातें लिखी हों तो क्या आश्चर्य्य है। तथापि मनुष्य को परमेश्वर की पवित्रादि गुणों का शुद्ध और पूर्ण ज्ञान नहीं है और यह बात कब खुलती है जब कि वे उन गुणों का कुछ अधिक व्याख्यान करने लगते हैं। अथवा जब वे परमेश्वर विषयक और कुछ बातें कहने लगते हैं तब भी उन की भूल खुल जाती है। इस लिये किसी मत के ग्रंथ में परमेश्वर की पवित्रादि गुणों के विषय में जो कुछ साक्षात् कहा है केवल उसी के विचारने से उस की परीक्षा नहीं हो सकती परन्तु उस का संपूर्ण विचार करना चाहिये। और वह इस प्रकार

से होता है कि जो जो उस में कहा है उस को भी विचारना चाहिये और जो जो नहीं कहा उस को भी बूझना चाहिये और जिन जिन बातों पर उस का संबंध पहुंचता उन को भी जांचना चाहिये तब उस का पूरा वृत्तांत प्रगट होगा। देखो दर्शनों में वेद पुराणादिकों को प्रमाण माने से कैसा खुलता है कि यदि उन में ईश्वर के न्याय और पवित्रता के विरुद्ध कुछ नहीं कहा तो वह इस कारण से नहीं है कि उन दर्शनकर्त्ताओं को ईश्वर के गुणों के विषय में शुद्ध और योग्य ज्ञान था परन्तु केवल इस लिये कि उन्हों ने उस विषय में कुछ विस्तार से वर्णन नहीं किया पर यदि ऐसा करते तो उन में भी सब प्रकार की भूल प्रगट होती॥

फिर यदि हम यह देखें कि मनुष्य के कर्तव्या कर्तव्य के विषय में और मत संबंधी और बातों में भी दर्शनकारों की क्या समझ है तो इस से भी यह खुल जायगा कि उन का ईश्वर की पवित्रतादि गुणों का ज्ञान कैसा है। क्योंकि इन बातों में और ईश्वर के गुणों में ऐसा दृढ़ संबंध है कि यदि उन में से एक में दोष पाया जावे तो दूसरे पर भी दोष ठहरता है। और इन बातों के विषय में वेद पुराणादिकों

में वहुत अयोग्य वर्णन है इस लिये उन के दोषों में दर्शन भी भागी होते हैं ॥

हम पीछे से दिखावेंगे कि धर्म और अधर्म के विषय में जो दर्शनों का मत है सो अत्यन्त अयोग्य है उस से यह सिद्ध होगा कि परमेश्वर की पवित्रतादि विषयक दर्शनों का मत शुद्ध नहीं है ॥

अव न्याय और वैशेषिक के सिद्धांत के अनुसार दया का गुण तो कदापि ईश्वर में नहीं हो सकता। क्योंकि उन का तो यह नियम है कि जीवों के कर्म के विना कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता । इस लिये जो कुछ जीव पाते हैं उस को उन के किये हुए कर्म्म ही का फल समझना चाहिये और यदि उन्हों ने मोक्ष को भी पाया तो उस को भी अपने ही काम से कमाया । और यह वात तो स्पष्ट है कि दया तभी कहलावेगी जव ईश्वर जीवों को विना उन की करनी के कुछ दे पर यह वात न्याय वैशेषिक और दूसरे दर्शनों के भी सिद्धांत के विरुद्ध है ॥

फिर न्याय और वैशेषिक जो यह वात नहीं मानते कि ईश्वर ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से सृष्टि को वनाया है परन्तु कहते हैं कि सारी सृष्टि जीवों के सत् असत् कर्मों का फल देने के लिये बनी है

इस से वे परमेश्वर की उस दया को सर्वथा उठा देते हैं जो कि सृष्टि की रचना में प्रगट होती है। जब हम परमेश्वर की इस सृष्टि पर दृष्टि करते हैं तो हम को चारों ओर उस की अद्भुत दया और उदारता के लक्षण देख पड़ते हैं। पहिले तो हम को जो अपनी उत्पत्ति के पहिले कुछ नहीं थे ईश्वर ने एक अस्ति और जीवन और ज्ञान आदि देकर कैसे सुख भोगने के योग्य बनाया। यद्यपि अब हम को अनेक दुःख भोगना पड़ता है तथापि ये सब दुखदायी पदार्थ और मृत्यु भी हमारे पापों का फल है और इस में तो हमारा ही अपराध है। परन्तु यदि हमने पाप न किया होता तो जो जो सुख हम को प्राप्त होता विशेष करके हमारी बुद्धि के शुद्ध होने से और स्वभाव के पवित्र होने से जो जो सुख हम को ईश्वर की पहिचान भक्ति प्रेम और समागम में प्राप्त होता उस का कुछ वर्णन नहीं हो सकता। जब हम सूर्य्य की ओर दृष्टि करते हैं जो देखने में ऐसा आल्हादकारक और अनेक लाभ दायक है उसी प्रकार से रात्रि को चंद्र औ तारागण को अवलोकन करते तो ऐसा जान पड़ता कि हमारे दयाल जन्मदाता की दया मूर्तिमंत होके हम से मानो संभाषण करती है। ये अति सुखकारक और

विश्रांतिदायक और मिष्ट फल के संपादक वृक्ष और रमणीय पर्वत और नदी आदिक जो पृथिवी को सुशोभित करते हैं ये सव मिलके मानो हम को पुकारते हैं कि अपने दयाल पिता के प्रेम और उदारता की स्तुति करो। इसी प्रकार से और भी अनेक सुखकारक पदार्थ जो ईश्वर ने वनाये उन का वर्णन कौन कर सकेगा। परन्तु इन सव बातों में परमेश्वर की दया तव सिद्ध होगी जव हम यह मानें कि ईश्वर ने अपनी स्वतंत्र इच्छा और स्वाभाविक उदारता से इस सृष्टि को वनाया है। पर नैयायिक और वैशेषिकों ने यह नियम ठहराके कि सव कुछ जीवों के कर्मों से वना है इस सारी शोभा पर एक उदासी की कारिख फेर दिई है। और परमेश्वर को एक निठुर स्वभाव का व्योपारी बनाया है जो कि गांहकों से दाम ले लेके उन को तौल तौलके सौदा वेच रहा है। यह तो न्याय और वैशेषिक मत का ईश्वर विषयक वर्णन है॥

२ दूसरा अध्याय ।

जिस में न्याय और वैशेषिक मत में जीव का जो वर्णन है अर्थात् उस के अनादि और सर्वव्यापक होने और बार बार जन्म लेने का जो मत है उस की परीक्षा है ॥

अब जीव के वर्णन में भी न्याय और वैशेषिक मत में बहुत भूल चूक है। वे जीवों को अनादि और सर्वव्यापक मानते हैं। पर हम आगे दिखा चुके कि ईश्वर को छोड़ किसी दूसरे पदार्थ को अनादि मान्ने से ईश्वर के ईश्वरत्व पर दोष आता है। पर नैयायिक और वैशेषिक जिन कारणों से जीवों को अनादि और सर्वव्यापक मानते हैं उन का अब हम विचार करते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम जीवों को अनादि और सर्वव्यापक न मानें तो वे विनाशवान् ठहरेंगे। पहिले अनादित्व के विषय में वे यह कहते हैं। जो जो पदार्थ आदिमान है सो सो विनाशवान है जैसे घट पट आदिक। इस लिये यदि जीव भी आदिमान होगा तो विनाशवान ठहरेगा। पर हम यह पूछते हैं कि यह जो तुम्हारा नियम है कि जो आदिमान है सो नाशवान है इस का क्या मूल है। यदि कहो कि हम घट पटादि पदार्थों को ऐसा देखते हैं यही उस का मूल है तो

घट पटादि भौतिक पदार्थों में और आत्मा के स्वरूप में इतनी बड़ी विलक्षणता है कि एक की बात दूसरे को नहीं लगा सकते हैं। फिर यह जानो कि हर एक पदार्थ की उत्पत्ति स्थिति और विनाश केवल ईश्वर इच्छा के अधीन हैं। क्या यदि वह चाहे तो एक घट को भी अपनी अनन्त शक्ति से सदा काल लों सुरक्षित न रख सकेगा। और दूसरे प्रमाणों से यह प्रगट है कि ईश्वर की यही इच्छा है कि जीव सदा बना रहे और जैसा उस ने चाहा वैसा करने को उस को कुछ अशक्य है। क्या तुम्हारा यह नियम उस की अनन्त शक्ति को भी प्रतिहत कर सकता है। यही तो एक तुम्हारी बड़ी भूल है कि तुम अपने मन से एक नियम ठहराते हो और तब उस के बंधन से सारे जगत को बरन ईश्वर को भी बांधने चाहते हो चाहे वह इस योग्य हो चाहे न हो॥

पण्डित लोग जो यह नियम मानते हैं कि जो जो उत्पत्तिमान है सो नाशवान है इस का कारण यदि कदाचित् कोई अपने मन में यह समझे कि जो जो उत्पत्तिमान द्रव्य है सो अवश्य करके सावयव है अर्थात् अंशों के मिलने से बना है और जो पदार्थ अवयवों से बना है उस के अवयवों के अलग २

होने का भी डर है इस लिये उस का कभी न कभी नाश होगा । तो हम कहते हैं यह नियम पण्डितों को मान्ना अवश्य है परन्तु हम को नहीं । क्योंकि पण्डित लोग कहते हैं कि हर एक कार्य्य उपादान कारण विना नहीं वनता और जो द्रव्य उपादान कारण से वनेगा सो तो अवश्य करके सावयव होगा । परन्तु हम कहते हैं कि परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति से विना उपादान के भी कार्य्य वना सकता है तो ऐसे कार्य्य का सावयव होना कुछ अवश्य नहीं है ॥

अव पण्डित लोग जो जीव को सर्वव्यापक मानते हैं उस का भी यही कारण है कि जिसतें जीव विनाशी न होवे । वे तीन प्रकार के परिमाण मानते हैं एक अणु परिमाण दूसरा मध्यम परिमाण तीसरा परम महत् परिमाण । अणु परिमाण तो सव से छोटा है जैसा परमाणुका और मध्यम परिमाण घट पट आदिक सव कार्य्य द्रव्यों का है। यह परिमाण ऐसा है कि यद्यपि वह कितना भी वड़ा हो तथापि उस के महत्त्व की कहीं न कहीं सीमा रहती है । तीसरा परम महत् परिमाण है जो असीम है । और यह परिमाण वे ईश्वर में आकाश में और जीव आदिक पदार्थों में ठहराते हैं । सो जिस पदार्थ

में यह परिमाण है वह सर्वव्यापक है। अब वे कहते हैं कि अणु परिमाणवाले और परममहत्परिमाण वाले पदार्थ तो अविनाशी हैं पर जो २ पदार्थ मध्यम परिमाण वाले हैं सो अविनाशी नहीं हो सकते। सो जीव को अविनाशी ठहराने के लिये अणु परिमाण अथवा परम महत् परिमाण ठहराना अवश्य है। पर यदि अणु परिमाण कहें तो उस के जो ज्ञान इच्छादिक गुण हैं उन का प्रत्यक्ष ज्ञान न होगा क्योंकि यह भी नियम है कि परमाणु के गुण प्रत्यक्ष से नहीं जाने जाते जैसे पृथिव्यादिकों के परमाणुओं के रूप रसादि गुण प्रत्यक्ष से नहीं जाने जाते। पर यह तो सभों का अनुभव है कि जीव के गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है इस लिये उस को परम महत् परिमाण ठहराना अवश्य है। पर हम कहते हैं कि यह भी जो उन का नियम है कि जो जो मध्यम परिमाण वाले हैं सो सो विनाशी हैं सो भी उन के पहिले नियम के समान निर्मूल है। यदि कदाचित् उन को यह डर हो कि यदि जीव को मध्यम परिमाण वाला मानें तो सावयव भी ठहरेगा और इस लिये विनाशवान होगा तो इस का उत्तर हम दे चुके कि यह शंका उन्हीं पर आती है जो हर एक कार्य द्रव्य की उपादान कारण से उत्पत्ति

मानते हैं पर हम पर यह शंका नहीं आती और इस लिये हम यद्यपि जीव को मध्यम परिमाण वाला मानें तथापि सावयव मान्ना हम को आवश्यक नहीं है । यदि कोई कहे कि मध्यम परिमाण वाले पदार्थ को निरवयव मान्ना बड़ा कठिन मालूम होता है तो हम कहते हैं कि यदि परमाणुओं को और परम महत् परिमाण वालों को निरवयव मान्ना तुम को कठिन नहीं मालूम होता तो मध्यम परिमाण वाले को वैसा मान्ना क्यों कठिन लगता है ॥

फिर और एक शंका इस विषय में पण्डित लोगों को जो होती है सो यह है कि यदि हम जीव को सर्वव्यापक न मानें परन्तु शरीर से परिछिन्न मानें तो यह भी मान्ना पड़ेगा कि शरीर के परिमाण के बदलने से उस का भी परिमाण बदलता है । क्योंकि पण्डितों के मत के अनुसार वही जीव एक जन्म में चिउंटी के शरीर में रहता है और दूसरे जन्म में मनुष्य के और फिर एक जन्म में हाथी के शरीर में भी जा सकता है । इस लिये वे कहते हैं कि यदि हम आत्मा के स्वरूप को शरीर से परिछिन्न मानें तो जब जीव चिउंटी के शरीर में है तब उस को अत्यंत छोटा मान्ना पड़ेगा । पर जब वही जीव

मनुष्य और हाथी के शरीर में रहेगा तो वह क्योंकर उस शरीर में व्यवहार कर सकेगा। उस शरीर में सिर से लेके पांव तक स्पर्श का बोध उस को क्योंकर हो सकेगा क्योंकि वह तो ऐसे बड़े शरीर में सिर से लेके पांव तक व्यापके नहीं रह सकता। इस लिये यह मान्ना पड़ेगा कि शरीर के साथ आत्मा भी बढ़ता घटता है। और जब इस प्रकार से उस में बार २ घटने बढ़ने के कारण से बदलना ठहरा तो बार २ उस में उत्पत्ति और विनाश भी ठहरेगा। क्योंकि बदलना क्या है यही कि पहिले का नाश होना और दूसरे का उत्पन्न होना। इस पर हम कहते हैं कि इस प्रकार से एक ही जीव का चिउंटी और मनुष्य और हाथी इत्यादि के शरीर में जाना हम तो मानते ही नहीं इस लिये इस विषय में पंडितों को उत्तर देना हम को आवश्यक नहीं है। तथापि इस का उत्तर देते हैं क्योंकि ऐसीही शंका उन को और बात में भी होवेगी। जैसा कि मनुष्य का शरीर बाल्यावस्था में छोटा रहता है और पीछे से बहुत बड़ा हो जाता है इस लिये वे कहेंगे कि यदि मनुष्य के जीव को शरीर से परिछन्न मानें तो यह मान्ना होगा कि बाल्यावस्था का छोटा सा आत्मा बड़ी अवस्था में बढ़ जाता है नहीं तो छोटे शरीर

के छोटे आत्मा को वड़े शरीर में सिर से लेके पांव तक स्पर्श का वोध क्योंकर हो सकेगा । इस लिये हम इस का उत्तर देते हैं कि यद्यपि आत्मा को शरीर से परिछिन्न समझें तथापि शरीर के परिमाण के वदलने से उस के परिमाण का वदलना आवश्यक नहीं है । वाल्यावस्था से मनुष्य जव वढ़ने लगता है तव उस के आत्मा की ज्ञान आदिक शक्ति तो वढ़ती है परन्तु यह कहना आवश्यक नहीं कि उस का परिमाण भी वढ़ता है । और जव हम कहते हैं कि आत्मा शरीर से परिछिन्न है तो यह हमारा तात्पर्य नहीं है कि उस का परिमाण ठीक शरीर के परिमाण के वरावर है । परन्तु हमारा केवल यह तात्पर्य है कि उस की स्थित शरीर के वाहर नहीं है । क्योंकि हम यह समझते हैं कि आत्मा का स्वरूप अति दुर्ज्ञेय है इस लिये उस के विषय में कोई पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता । और उसी आत्मा को छोटे और वड़े शरीर में सिर से ले पांव लों समस्त अंगों में स्पर्श का भान होना कुछ कठिन नहीं है । क्योंकि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा से रूप रस स्पर्श आदि विषयों का ग्रहण करता है । और उन इन्द्रियों की वृद्धि और क्षीणता से उस के ज्ञान में भी वृद्धि और क्षीणता होती है । जैसे वही मनुष्य नेत्रेन्द्रिय के

क्षीण होने से कम देखता है और फिर उस के सुधर जाने से अधिक देखने लगता है। वैसे ही स्पर्श का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से होता है और शरीर के साथ त्वगिन्द्रिय भी बढ़ता है और उसी से बड़े शरीर में भी सब अंगों में स्पर्श का बोध हो सकता है॥

पर तत्त्व बात यह है कि आत्मा का स्वरूप ऐसा दुर्ज्ञेय है कि मनुष्य की बुद्धि और वाणी का विषय नहीं हो सकता। हम केवल जीव के विषय में इतना जानते हैं कि जीव कोई ऐसा पदार्थ है जिस में जान्ना इच्छा करना इत्यादि धर्म रहते हैं पर इस्से अधिक उस के विषय में कुछ नहीं कह सकते और पृथिवी जल आदिक जड़ पदार्थों में जैसे परिमाण और लंबाई चौड़ाई आदिक गुण हैं उन को उसी प्रकार से आत्मा में नहीं लगा सकते। इस लिये जो २ बातें तुम घट पटादि भौतिक पदार्थों के विषय में समझते हो उन को जीव के स्वरूप पर मत लगाओ। परन्तु पण्डित लोगों का ऐसा स्वभाव है कि वे यह विचार नहीं करने चाहते कि कौन बात हमारी बुद्धि की पहुंच के भीतर है और कौन बाहर है पर चाहते हैं कि दृश्य अदृश्य जीव ईश्वर आदि सब पदार्थों को नाप जोख लें उन को चारों ओर से उलट पुलटके उन के भीतर पैठके उन के

समस्त तत्त्व को अपनी मुट्ठी में लाकर रक्खें । उन की समझ है कि जान्ना तो सबही जान्ना नहीं तो कुछ भी नहीं । और इसी लिये मिथ्या विचार के वन में भटक जाते हैं । पर हम उन से कहते हैं कि जीव का स्वरूप जैसा हो तैसा हो तथापि उस की उत्पत्ति स्थित और नाश ईश्वरेच्छा के अधीन हैं और इस लिये यदि ईश्वर की इच्छा हो कि जीव सदा बना रहे तो उस का विनाश किसी प्रकार से नहीं हो सकता ॥

परन्तु जीवों के अनादि मान्ने में पण्डित लोगों की दृष्टि में जो बड़ा भारी कारण है सो यह है । वे कहते हैं कि यदि जीवों को अनादि न मानेंगे परन्तु यह कहेंगे कि वे इसी शरीर के साथ नये उत्पन्न हैं तो इस में परमेश्वर पर वैषम्यनैर्घृण्यरूप दोष आवेंगे । वैषम्य उस को कहते हैं कि सभों पर समान दृष्टि न करना परन्तु किसी पर अधिक अनुग्रह करना और किसी पर कम किसी को बड़ा पद और बड़ा ऐश्वर्य्य देना और किसी को उस्से निकृष्ट । नैर्घृण्य का अर्थ है निर्दयता कि किसी को बिना अपराध दुःख देना जो अन्याय ठहरता है । अब हम इस जगत में देखते हैं कि कितने बड़ा पद और बड़ा ऐश्वर्य्य भोगते हैं और कितने दीन और

निर्धन देख पड़ते हैं तो इस का क्या कारण है जो ईश्वर ने एक को ऐसा और दूसरे को वैसा बनाया है। फिर प्रायः सब मनुष्य दुःख और बिपत्ति पाते हैं उस का भी क्या कारण है। यदि कहो कि इन बातों का कारण उन का पाप है जो उन्हों ने इसी जन्म में किया है। तो यह बात नहीं लग सकती। क्योंकि हम देखते हैं कि बहुतेरे जो बड़े पापी हैं सो बड़ा ऐश्वर्य्य और सुख पाते हैं और बहुतेरे जिन का आचार उन से कहीं भला है सो दैन्य और दुःख की ज्वाला में छटपटाते हैं। फिर बालकों और पशुओं के विषय में क्या कहोगे जो जान बूझके कोई भी पाप नहीं करते तथापि बहुत सी पीड़ा पाते हैं। इस लिये हम पूर्व जन्म को मानते हैं जिस से ये सारे दोष दूर हो जाते हैं। क्योंकि तब हम कह सकते हैं कि जो मनुष्य इस जन्म में बड़ा ऐश्वर्य्य और सुख पाता है उस के कर्म यद्यपि अति दुष्ट हों तथापि उस ने पूर्व जन्म में अधिक पुण्य किया था जिस का वह फल भोग रहा है। और इसी प्रकार से दूसरा मनुष्य जो इस जन्म में अधिक दुःखी है तथापि जिस के कर्म औरों से अच्छे हैं उस ने भी पूर्व जन्म में बड़ी दुष्टता किई थी जिस का अब वह दंड भोगता है और वैसाही बालक

और पशु भी पूर्व जन्म के किये हुए पापों का फल भोगते हैं । फिर एक ही पूर्व जन्म के मान्ने से भी काम नहीं चलता क्योंकि उस जन्म में भी जो सुख दुःख पाते हैं उन के लिये भी उस्से पहिले जन्म के कर्मों को ठहराना चाहिये । फिर शरीर को धारण करना भी कर्म का फल है इस लिये जब जब जीव शरीर को प्राप्त करता है तब तब उस के लिये उस्से पहिले कर्म को ठहराना अवश्य है । इस लिये हम अनादि काल से कर्म और जन्म लेने की धारा को मानते हैं । कि कर्म से जन्म और जन्म से कर्म अनादि काल से होते आये हैं ॥

इस के उत्तर में हम कहते हैं कि इस युक्ति से भी जीव का अनादि होना नहीं सिद्ध हो सकता । क्योंकि यदि हम तुम्हारी इतनी बात मान भी लें कि इस संसार में जो कभी कभी साधुओं को अधिक दुःख और दुष्टों को अधिक सुख होता है और बालक और पशु जिन्हों ने जान बूझके पाप नहीं किया है वे भी दुःख भोगते हैं इस लिये पूर्व जन्म को मान्ना चाहिये तथापि जीवों के अनादि मान्ने की और जन्म मरण की अनादि धारा मान्ने की क्या आवश्यकता है । क्योंकि यदि हम इतना मानें कि आदि समय में जब जीवों को ईश्वर ने उत्पन्न किया

तब वे सुखी थे परन्तु जब उन्हों ने पाप किया तब उस का फल भोगने के लिये अनेक जन्म लेना पड़ा तो इतने से भी तुम्हारी सब शंका दूर हो सकती हैं। परन्तु तुम जो कहते हो कि जब जब जीव शरीर को धारण करता है तब तब उस्से पहिले कर्म को भी ठहराना चाहिये क्योंकि शरीर धारण करना भी कर्म का फल है सो तुम्हारा कहना तो अत्यंत निर्युक्तिक है। क्योंकि हम आगे ही दिखा चुके कि तुम्हारा जो यह नियम है कि हर एक कार्य्य के लिये जीव कर्म को कारण मान्ना चाहिये सो तो अत्यंत अयोग्य है परन्तु ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा से कार्य्य उत्पन्न करता है। परन्तु पण्डित लोग कहते हैं कि शरीर तो दुःखायतन अर्थात् दुःख का बसेरा है इस लिये वह भी दुःख रूपी है। इसी लिये नैयायिक एकईस प्रकार के दुःखों में शरीर की भी गणना करते हैं। तो यदि ईश्वर जीवों के कर्म के बिना उन को शरीरी करे तो इस में भी अन्याय ठहरेगा। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि शरीर स्वभावतः दुःखायतन नहीं है। बरन शरीर के द्वारा बहुत कुछ सुख प्राप्त होता है। परन्तु रोगादिक के होने से जो शरीर से दुःख होता है उस्से बचाने का ईश्वर में सामर्थ्य है। यदि

वह चाहे तो हम को शरीरी रखके भी सुखी रख सकता है। देखो यहां भी कैसी पण्डितों की विचार की कच्चाई प्रगट होती है। न्याय और वैशेषिक मत के अनुसार पण्डित लोग ईश्वर की अस्ति को मानते हैं। तथापि जब वे और बातों का विचार करने लगते हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि मानो वे ईश्वर को भूल गये और मानो सब बातों की व्यवस्था को आकस्मिक समझते हैं। क्योंकि वे जो ऐसा सिद्धांत ठहराते हैं कि शरीर के साथ दुःख अवश्य है इस का कारण यही है कि वे सर्वत्र ऐसा ही देखते हैं और इस लिये समझते हैं कि इस का ऐसा ही स्वभाव है और मानो ईश्वर भी उस को और प्रकार का नहीं कर सकता। ऐसी ही उन की भूल उस नियम में भी है जो वे कहते हैं कि जो २ उत्पत्तिमान है सो अविनाशी नहीं हो सकता। पर देखो ऐसी बातों का मान्ना तब योग्य ठहरेगा जब कि हम इस संसार के प्रवाह को आकस्मिक और किसी स्वाभाविक नियम के अधीन मानें। परन्तु यदि ईश्वर इस का नियामक है तो सारी बातें उसी की इच्छा से होती हैं। कितने पदार्थ विनाशी हैं क्योंकि उस की ऐसी ही इच्छा है कि वे विनाशी होवें। फिर कितने अविनाशी हैं क्योंकि उन के

विषय में उस ने वैसी ही इच्छा किई। इसी रीति से हम मनुष्य दुःख भोगते हैं क्योंकि उस के अगाध और दुर्ज्ञेय विचार में ऐसा ही उचित ठहरा है। और यदि उस की इच्छा हो तो शरीर में रखके भी हम को सुखी रखना उस को कुछ कठिन नहीं है। और परमेश्वर के सत्य शास्त्र से प्रगट होता है कि जब मनुष्य निष्पापता की दशा में था तब उस के लिये कोई दुःख न था। न रोग न शोक न मृत्यु उस को थी। बरन उस का शरीर उस के लिये अनेक सुखों का द्वार था। परन्तु जब से वह पापी हुआ तब से अनेक मानस और शरीरक दुःखों के अधीन हुआ। और पृथिवी जल वायु आदिक सब बाह्य पदार्थ जो पहिले उस के लिये केवल सुख के संपादक थे सो पीछे से अनेक दुःखों के उत्पादक बन गये। इस लिये पण्डितों का यह सिद्धांत सर्वथा अयोग्य है कि शरीर में रहना ही दुःख रूप है॥

अब जीवों के कर्म और जन्म की अनादि धारा की बात के खंडन में जो अभी हम ने कहा सो केवल तुम्हारी ही समझ के अनुसार कहा। क्योंकि हम तो जीव का बार २ जन्म लेना ही नहीं मानते। और जो तुम इस के सिद्ध करने के लिये युक्ति लाते हो सो हमारी समझ में दुर्बल है। जीव के बार २

जन्म न मान्ने में तुम्हारी समझ में पहिला दोष वैषम्य है। इस में यदि तुम्हारा केवल यह तात्पर्य है कि परमेश्वर ने सभों को समान पद और समान सुख नहीं दिया है तो यह शंका हमारी समझ में कुछ भी नहीं। क्योंकि हम तो यह मानते हैं कि परमेश्वर ने अपने उत्तम गुणों को प्रगट करने के लिये सृष्टि को बनाया और वह सब जीवों को विना उन के कर्म के नये २ बनाता है। और अपनी सृष्टि की विचित्रता दिखाने के लिये उन को भी बिचित्र प्रकार से बनाता है। जैसे एक प्रकार के जीव वे हैं जिन को हम स्वर्गीय दूत कहते हैं जिन का पद ऐश्वर्य ज्ञान पराक्रम आदिक मनुष्यों से कहीं अधिक हैं। वे अशरीरी और दिव्यरूप हैं। उन से छोटे मनुष्य हैं। फिर उन से भी अत्यंत छोटे निर्बिवेक जीव हैं जैसे पशु। फिर इतनों को तो हम जानते हैं परन्तु परमेश्वर की बिशाल सृष्टि में कौन कह सकता कि और भी भिन्न २ पद के कितने जीव होंगे। फिर स्वर्गीय दूतों में भी भिन्न २ पदवी हैं। वैसे मनुष्यों में भी भिन्न २ पदवी हैं। तो जब कि ईश्वर ने इन को अपनी स्वतंत्र इच्छा से बनाया है तो उन में से किसी को यदि बड़ा पद दे और किसी को छोटा तो क्या इस में किसी का दावा है।

जो हम पहिले कुछ थे ही नहीं और हम को उत्पन्न करके उस ने कुछ भी दिया है तो इस में उस की केवल दया ही है। तो क्या यह दया केवल इस बात से अन्याय हो जायगी कि उस ने दूसरे को हम से अधिक दिया। यदि कोई किसी दरिद्र को दस रूपये देवे तो वह उस के बड़े उपकार मानेगा। पर यदि दूसरे दरिद्र को सौ रूपये देवे तो क्या पहिले का उपकार अनुपकार हो जायगा वरन अन्याय ठहरेगा। हम जानते हैं कि पाप के कारण से मनुष्यों का स्वभाव जो भ्रष्ट हो गया है उस करके जब कि वे देखते हैं कि औरों को हम से अधिक मिलता है तो प्रायः बुरा मानते हैं और डाह करते और दुःखी भी होते हैं। पर यह उन का दुःख उन के भ्रष्ट स्वभाव के कारण से है पर उस का कोई योग्य कारण नहीं है। इस लिये किसी को न्यून और किसी को अधिक देने में कुछ अन्याय नहीं। यह तो है कि जब सभों का दावा बराबर पाने पर हो तब अन्याय होगा परन्तु परमेश्वर पर किसी का दावा नहीं है॥

पर अब यदि तुम कहो कि भला यद्यपि हम इस बात को मान लें कि किसी को छोटा पद और किसी को महत पद देने में और किसी को थोड़ा

ऐश्वर्य और किसी को वड़ा ऐश्वर्य देने में कुछ अन्याय नहीं है तथापि किसी को अकारण दुःख देना तो अन्याय ठहरेगा। और यहां कितने बड़े पापियों को वड़ा सुख मिलता है और कितने जो सज्जन हैं सो दुःख की लवर में तड़पते हैं और वालक और पशु भी अनेक दुःख पाते हैं जिन्हों ने कुछ पाप नहीं किया है। सो इन सब वातों का क्या कारण ठहराते हो। तो इस का उत्तर सुनो। इस में कुछ संदेह नहीं कि पाप का फल दुःख है। और इस लिये कि सव मनुष्य पापी हैं यह उचित है कि वे पाप के कारण से अनेक दुःख पावें। और यद्यपि मनुष्यों में कितने लोग भले और सज्जन कहलाते हैं तथापि वे भी ईश्वर के साम्हने अपराधी हैं। क्योंकि मनुष्य की दृष्टि और ईश्वर की दृष्टि में वड़ा भेद है। मनुष्य की दृष्टि तो पाप के कारण से मलिन हो गई है इस लिये उन की दृष्टि में पाप की वुराई ठीक २ प्रगट नहीं होती। मनुष्यों में जो कितने लोग साधु और सज्जन कहलाते हैं इस का कारण केवल यही है कि वे और वहुतों से अच्छे हैं। परन्तु ऐसा एक भी मनुष्य इस जगत में नहीं है कि जिस का मन और स्वभाव पाप के कलंक से कलंकित न हुआ हो। इस लिये वे भी जो मनुष्यों में सज्जन

कहलाते हैं उस महा पवित्र परमेश्वर के साम्हने अपराधी और दंड के योग्य हैं। परन्तु यदि तुम पूछो कि भला यद्यपि ऐसे सज्जन पुरुष भी दंड के योग्य हों तथापि जो लोग उन से अधिक दुष्ट हैं वे क्यों सुखी होते हैं और ये क्यों उन से अधिक दुःख पाते हैं। तो इस का उत्तर सुनो इस जगत में मनुष्यों का न्याय होने का स्थान नहीं है। परन्तु उन का पूर्ण न्याय मरणोत्तर होगा। और तभी हर एक अपनी २ करनी का ठीक २ और पूरा बदला पावेगा। परन्तु यह जगत तो एक पाठशाला के सदृश मनुष्यों के लिये शिक्षा प्राप्त करने का स्थान है। इस लिये यहां जो सुख अथवा दुःख होते हैं सो कुछ हर एक की करनी का बदला रूप नहीं हैं। परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि परमेश्वर हर एक मनुष्य के हित के लिये जैसा योग्य समझता है वैसाही उस को सुख अथवा दुःख देता है। परन्तु किस को कौन बात हित अथवा अहित है इस का निर्णय करने की हम तुम को योग्यता नहीं है। क्योंकि हम तुम हर एक के मन और स्वभाव को और उस के भूत भविष्य वर्तमान की दशा को और जो उस को सुख अथवा दुःख हो उस के भावि परिणाम को नहीं जान सकते। इस लिये यदि हम यह कहें कि

इस संसार में जो जो दुःख होते हैं वे सब अनिष्ट रूप ही हैं तो इस में हमारी वड़ी भूल होगी। क्योंकि सच पूछो तो परमेश्वर दया करके हम पर इस संसार में दुःख भेजता है जिसतें हम दुःख का स्वाद पाकर चेत जावें और पश्चात्ताप करके ईश्वर की ओर फिरें और अपने को उस लोक के वड़े दंड से वचावें। तो देखो यहां के दुःखों को देखकर परमेश्वर के न्याय पर शंका करना कैसे अविचार की बात है। जब कोई मनुष्य विचारान्ध होके कुकर्म की राह पर चला जाता है और किसी महा दुःख के कारण से उस के हृदय की दृष्टि खुल जाये और वह चेत जाये और पश्चात्ताप करके ईश्वर की ओर फिरे तो वह मनुष्य उस दुःख के देने में परमेश्वर का महा प्रसाद समझेगा कि नहीं और जन्म भर ईश्वर की स्तुति करेगा कि नहीं॥

और यह मत समझो कि जो साधु और सुस्वभाव हैं उन को इस दुःखरूपी औषध की आवश्यकता नहीं है। उन में भी वहुत सी भूलचूक और कसर रहती है। और वहुधा ऐसा होता है कि जो ईश्वर के प्रिय दास हैं उन को निज करके ईश्वर बिपत्ति की दशा दिखलाता है कि वे सुवर्ण के समान दुःख की भट्ठी में ताये जाके अधिक निर्मल हो जावें।

तो देखो केवल दुःख का नाम सुनके उस को सर्वथा बुरा समझना और अपनी क्षुद्र बुद्धि से उस के गुप्त कारणों के विषय में निर्णय करने लगना कैसी अज्ञानता की बात है॥

बहुतेरे लोग पूछते हैं कि यदि पूर्व जन्म नहीं है तो कितने जन्महीसे अन्धे लंगड़े क्यों उत्पन्न होते हैं। और ईश्वर कितनों को तो ऐसे और कितनों को भले चंगे उत्पन्न करता है क्या इस में ईश्वर में अन्याय न ठहरेगा। पर हम उन से यही कहेंगे कि भाई समुझ बूझके बोलो। क्या तुम ऐसे क्षुद्र कीट पतंग के सदृश होकर ईश्वर के अगाध गंभीर अभिप्राय का थाह लेने चाहते हो। क्या तुम हर एक मनुष्य के मन और स्वभाव और समस्त बाह्याभ्यन्तर दशा को जान सकते हो। कौन कह सकता है कि उन्हीं लंगड़े और अंधों के अविनाशी आत्मा को उन के चार दिनों के कष्ट के कारण से क्या क्या कुछ हित होगा। यह तो है कि यद्यपि परमेश्वर अपनी बड़ी दया से हमारे अविनाशी आत्मा के अनन्त कल्याण के लिये अनेक विध दुःखरूपी औषध हम को देता है तथापि मनुष्य अपने पाप में ऐसे प्रमत्त हो रहे हैं कि बहुतेरे उन में से उन दुःखों के कारण से भी चेत नहीं जाते

और अपने पापों से पश्चात्ताप करके ईश्वर की ओर नहीं फिरते। पर यह उन का ही दोष है ईश्वर की तो उस बात में दया ही ठहरती है। क्या तुम्हारे यहां भी ऐसी बात नहीं लिखी है कि (यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्।) अर्थात् जिस पर मैं अनुग्रह करने चाहता हूं उस के धन को हर लेता हूं॥

अब बालकों और पशुओं के दुःख की बात रह गई। पर इस में हम तुम को पूछते हैं कि क्या यह बात निश्चित है कि जब कोई जीव दुःख पाता है तो केवल उसी के किये हुये अपराध के सिवाय और कोई उस के दुःख पाने का योग्य कारण नहीं हो सकता। जब कोई मनुष्य बड़ा राजद्रोह करे तो राजा उस मनुष्य को घात करता है और उस के गांव जागीर और धन दौलत को छीन लेता है। तब उस के लड़के परिवार को बड़ा दुःख होता है यद्यपि वे लोग उस राजद्रोह के कर्म में कुछ भी भागी न हुये हों। तो क्या उस राजा को कोई अन्यायी कहेगा। फिर यदि किसी राजा की प्रजा अति उत्तम और सब बातों में आज्ञापालक हो और राजा भी उस से अति प्रसन्न हो। तथापि जब कोई वैरी राजा से युद्ध करने को आवे तो राजा

अपनी प्रिय प्रजा को आज्ञा करता है कि तुम सव को इस युद्ध में मेरी सहायता करना होगा। और इस वात में हजारों मारे जाते और वहुत दुःख पाते हैं. यद्यपि उन्हों ने अपने स्वामी का कुछ अपराध नहीं किया वरन जन्म भर उस की आज्ञा मानी थी। तो कहो कि उन को युद्ध में भेजने से राजा पर कोई अन्याय ठहरावेगा। फिर और एक दृष्टांत सुनो। एक राजा ने अपने पुत्र को विद्या सीखने के लिये एक पण्डित के हवाले किया। वह पण्डित वड़ाही महात्मा विद्यावान् और चतुर था। और वह राजपुत्र भी अति सुशील और परिश्रमी और गुरु की आज्ञा का पालक था। उस पण्डित ने उस को सव प्रकार की विद्या सिखाई। जव वह सव विद्या में निपुण हो चुका तो पण्डित जी उस को राजा पास ले आये और कहा कि पृथिवीनाथ मैं आप के पुत्र को सव विद्या सिखा चुका हूं अव केवल एक वात सिखानी रह गई जो आप के पुत्र के लिये मैं वहुत ही आवश्यक जानता हूं पर वह ऐसी है कि जव लों आप मुझ को क्षमा दान का वचन न देवें मैं नहीं सिखा सकता। राजा ने कहा महाराजजी आप ऐसा क्यों कहते हैं मैं तो अपना यह महाभाग्य समझता हूं कि आप ऐसे महात्मा

मुझ को मिले और मैं ने तो अपने वालक को आप के हवाले किया है और मुझे यह निश्चय है कि आप जो करेंगे सो केवल भलाही करेंगे। तव पण्डित ने कहा कि अच्छा एक घोड़ा मेरे लिये सिद्ध करवाइए। सो जव घोड़ा पण्डित जी के पास आया तो पण्डित जी ने घोड़े पर सवार होके राजकुमार को अपने पास वुलाया। जव वह समीप आया तो पण्डित ने एक कोड़ा वड़े जोर से राजपुत्र की पीठ पर मारा और घोड़े को दौड़ाके उस को कहा कि तुम भी घोड़े के साथ दौड़ो। राजा यह देखके घवड़ाया और दौड़के पण्डित के पास जाकर कहा कि हे महाराज यह आप क्या करते हैं। तव पण्डित ने घोड़े को ठहराकर राजा से कहा कि पृथिवीनाथ आप मेरी इस वात को क्षमा करिये। मैं केवल आप के पुत्र का हित चाहता हूं और मेरी समझ में उस को इस एक वात का सिखाना वहुत आवश्यक था। क्योंकि वह राजपुत्र है और उस को यह वात सर्वथा विदित नहीं कि मार खाने और दूसरे तरह के परिश्रम करने में क्या दुःख होता है। इन वातों का नाम भर वह जानता है पर उन का स्वाद उस को कुछ भी मालूम नहीं। तो परमेश्वर की कृपा से जव यह राजसिंहासन पर

बैठेगा तो उस को दूसरों की दुःख दर्द क्योंकर मालूम होगी और जब कोई अपराध करे तो उस के शासन करने में कुछ कोमलता और क्षमा की ओर ध्यान रखने की वुद्धि क्योंकर उपजेगी पर ये बातें तो अच्छे राजाओं में आवश्यक हैं। सो जिसतें आप का पुत्र इन गुणों से भी रहित न रहे इस लिये मैं ने यह उपाय किया है। सो देखो इस राजपुत्र ने पण्डित का कुछ अपराध तो न किया था तथापि उस को दुःख देने में पण्डित को कोई अन्यायी नहीं ठहराता। पर यदि कोई अज्ञानी जन पण्डित के अभिप्राय को न जानके केवल दूर से यह अद्भुतचरित्र देखके अपने मन में कहता कि देखो इस राजपुत्र से कोई भारी अपराध हुआ है या नहीं तो पण्डित ने बड़ा अन्याय किया तो उस का कैसा अविचार और साहसीपन प्रगट होता। इन सब दृष्टान्तों में हमारा यह तात्पर्य मत समझो कि राजा और पण्डित की बात और ईश्वर की बात सर्वथा समान है अथवा उन प्रजाओं की जिन के दुःख का कारण राजा हुआ और उस राजपुत्र की दशा और बालकों और पशुन की दशा में सर्वथा समानता है अथवा उन सभों के दुःखों के फल एक ही प्रकार के हैं। नहीं नहीं ऐसा हमारा तात्पर्य

मत समझो । क्योंकि बहुधा वाद करने में ऐसा होता है कि अपने वादी का तात्पर्य न समझके उस के कोई वचनों को पकड़के औरही प्रकार के अर्थ में ले जाते और उस पर दोष लगाते हैं । सो हम तुम से बिनती करते हैं कि ऐसा मत करो पर यह जानो कि इन सब दृष्टान्तों के ले आने में हमारा तात्पर्य केवल इस बात के दिखाने में है कि ऐसा कुछ नियम नहीं है कि जब जब किसी को कुछ दुःख होवे तो उसी के किये हुए अपराध के सिवाय और कुछ कारण नहीं हो सकता । केवल तुम्हारे इस नियम की निर्मूलता दिखानेही के लिये हम उन दृष्टान्तों को ले आये । और बालक और पशुन के दुःखों को देखके उनके पूर्व जन्म की अनुमिति करने में तो केवल वह नियम ही कारण हो सकता है और यदि वह नियम झूठा ठहरे तो वह अनुमिति भी झूठी ठहरेगी । यदि तुम कहो कि राजा और पण्डित के दृष्टान्त जो तुम ने कहे उन से हमारा वह नियम खण्डित नहीं होता कि जब जब कोई जीव कुछ दुःख पाता है तो बिना कुछ अपराध किये नहीं पाता । क्योंकि हमारे मत के अनुसार जिन लोगों ने राजा और पण्डित का अपराध न करके भी राजा और पण्डित से दुःख

पाया है सो अपनेही पूर्व जन्म के किये हुये पाप का फल पाया है इस लिये उन के दुःख का कारण भी अपराधही ठहरा तब हमारे नियम का भंग कहां हुआ। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि तुम ने हमारे दृष्टान्त का ठीक तात्पर्य नहीं समझा। यदि उन्हों ने पूर्व जन्म में पाप किया हो तो उस करके वे ईश्वर के अपराधी ठहरेंगे पर हमारे दृष्टान्त का तात्पर्य इस बात में है कि उन्हों ने राजा और पण्डित का तो कुछ अपराध नहीं किया तिस पर भी राजा और पंडित उन के दुःख देनेवाले होके भी अन्यायी नहीं कहलाते। परन्तु उसी के किये हुये अपराध के सिवाय किसी को कुछ भी दुःख देने का यदि और कोई योग्य कारण न होता तो राजा और पंडित अवश्य इस बात में अन्यायी ठहरते। क्योंकि जब कोई किसी का बिना योग्य कारण के घात करता है तब भी तो तुम्हारे मत के अनुसार जो मनुष्य घात किया जाता है सो अपनेही पूर्व जन्म के पाप का फल भोगता है पर क्या इस से वह मनुष्य जिस ने अकारण घात किया निर्दोष ठहरता है। इस लिये हमारे दृष्टान्त निश्चय करके इस बात को सिद्ध करते हैं कि किसी मनुष्य के दुःख पाने के योग्य कारण उसी के किये हुये अपराध के

सिवाय और भी हो सकते हैं और तुम्हारा वह नियम निर्मूल है । हां हर एक दुष्कर्मी को परलोक में जो भयङ्कर दण्ड भोगना होगा उस के विषय में तो वह नियम ठीक है । पर इन चार दिनों के जीवन में जो अल्प काल के लिये क्षुद्र दुःख होते हैं उन के विषय में वैसा नियम ठहराने के लिये कोई पक्का और निश्चायक प्रमाण नहीं है । और यह जानो कि बालकों और पशुन को जो दुःख होते हैं सो सज्ञान मनुष्यों के दुःख की अपेक्षा से अत्यन्त क्षुद्र हैं यद्यपि देखनेवालों को वे अत्यन्त भयंकर देख पड़ते हैं । क्योंकि यह निश्चित है कि जितनाही ज्ञान कम होता है उतनाही दुःख कम होता है । सो सच पूछो तो बालकों के दुःखों के देखनेवाले मा बाप इत्यादिकों को जितना दुःख होता है उतना कदाचित् उन बालकों को न होता होगा । और यद्यपि उन दुःखों का कोई फल अभी हमारी दृष्टि में प्रगट न हो तथापि निश्चय करके जानो कि ईश्वर ने उन को किसी अत्यन्त उत्तम और शुभ परिणाम के लिये होने दिया है कि जब वह हमारी दृष्टि में प्रगट होगा तब हम कहेंगे कि इस परिणाम की भलाई के साम्हने उन दुःखों की बुराई कुछ चर्चा के भी योग्य नहीं है । फिर यह बात भी ईश्वर

के सत्य शास्त्र से हम पर प्रगट होती है कि इस जगत में दुःख के प्रवेश करने का मुख्य और आद्य कारण पापही है और हर एक जो दुःख भोगता है उस के दुःख का दुष्कर्म अथवा दुष्ट स्वभाव के साथ जो दुष्कर्म का वीज रूप है साक्षात् अथवा परंपरा का कुछ संबंध रहताही है। तथापि हम कहते हैं कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के काम ऐसे गंभीर और दुर्बोध हैं और वह अपनी अचिंत्य बुद्धि से एक एक बात को ऐसी अनेक भिन्न २ प्रयोजनों की उत्पादक ठहराता है कि हम यह निश्चय करके नहीं कह सकते कि जब २ कोई जीव इस जगत में कुछ भी दुःख पाता है तब उसी के किये हुये पाप के सिवाय और कोई योग्य कारण नहीं हो सकता। क्योंकि उस बात के बहुत से योग्य कारण हो सकते हैं जिन को हमारी अल्प बुद्धि नहीं जान सकती। इस लिये बालकों और पशुओं के अथवा और किसी के कुछ दुःख को देखके झटपट ऐसा निश्चय कर बैठना कि उन का कोई पूर्व जन्म था और उस में उन्हों ने कुछ पाप किया था यह कैसी साहस की बात है। ऐसे अद्भुत सिद्धान्त के स्थापित करने के लिये तो कोई पक्का और निश्चायक प्रमाण चाहिये। यह तो प्रगट है कि बार २ जन्म लेने की बात बड़ी अद्भुत

है। हां हिन्दुओं को लड़कपन से सुनते २ उस का ऐसा अभ्यास हो गया है कि उन की दृष्टि में कुछ अद्भुत नहीं देख पड़ती परन्तु सच मुच यह बात अत्यन्त अद्भुत और झटपट विश्वास करने के योग्य नहीं है कि हम लोग अनादिकाल से अगणित वार देव मनुष्य हाथी घोड़ा कुत्ता विल्ली वांदर चूहा विच्छू गोजर होते आये हैं। क्या ऐसे ऐसे तमाशे हम देखते आये हों और उन में से एक वात का भी अव हम को स्मरण न रहे। यदि कहो कि वाल-अवस्था की वात का और कितनी सज्ञानपन की वातों का भी हम को स्मरण नहीं रहता। तो हम कहते हैं कि क्या हम इतने अगणित जन्मों में वालकही होते आये हैं। और यद्यपि हम सज्ञान-पन की कितनी वातों को भूल जाते हैं तथापि हज़ारों वातों का स्मरण हमारे जीवन के साथ मानों एक हो रहता है। सच वात यही है कि सारे संसार का साधारण अनुभव यही कहता है कि हमारे जीव हमारे शरीर के साथ उत्पन्न किये गये हैं। यदि कोई कहे कि यह वात सर्वथा अशक्य नहीं है कि हम हर एक नया जन्म लेते समय अगिले जन्म की वात को भूल जायें तो हम मान लेते हैं कि यह सर्वथा अशक्य नहीं है। पर ऐसी वहुत सी वातें हैं

जो सर्वथा अशक्य नहीं हैं तथापि उन को हम झट पट नहीं मान सकते। क्या यह बात सर्वथा अशक्य है कि हाथियों को पंछी के समान पंख फूट निलें और वे आकाश में उड़ने लगें। तथापि यदि कोई मनुष्य आकर हम को ऐसी बात कहे तो हम एका एक उस के बचन पर बिश्वास न करेंगे। हां यदि वह अपनी बात की सच्चाई के लिये कोई अत्यन्त प्रबल प्रमाण दिखावे तो तब हमें उस बात को भी मान्ना पड़ेगा नहीं तो नहीं। क्योंकि यह जानो कि जो बात जितनी ही अधिक अद्भुत हो उस के लिये उतनाही अधिक प्रबल प्रमाण चाहिये। सो तुम्हारी बार २ जन्म लेने की अद्भुत बात के लिये कोई पक्का और निश्चायक प्रमाण नहीं है इस लिये उस पर भी बिश्वास नहीं कर सकते। क्योंकि यह जो तुम्हारा नियम है कि जो २ किसी जीव को कुछ दुःख होता है उस का योग्य कारण उसी के किये हुये पाप को छोड़ और कुछ नहीं हो सकता सो अत्यन्त दुर्बल है। राजा और पण्डित के दृष्टान्तों में हम ने दिखाया कि उस के और भी योग्य कारण हो सकते हैं। और यह भी जानो कि राजा और पण्डित के व्यवहार से परमेश्वर का व्यवहार तो अनन्त अधिक बिशाल और गंभीर है। इस

लिये राजा आदि के व्यवहार में जहां एक कारण हो तहां कौन जान सकता है कि परमेश्वर के व्यवहार में कितने कारण होंगे। क्या तुम परमेश्वर के संपूर्ण बिचार का पता लगा सकते हो और हर एक बात के विषय में निश्चय करके कह सकते हो कि यही इस का कारण है और दूसरा कुछ नहीं हो सकता। इस विश्व में ऐसे अगणित पदार्थ हैं जिन का प्रयोजन हम तुम कुछ भी नहीं बता सकते तो क्या उन के विषय में कहोगे कि इस का कुछ प्रयोजन हैही नहीं। ईश्वर का यह विश्वरूपी यन्त्र ऐसा विशाल है कि इस का अंत नहीं लग सकता। इस में जो अगणित पदार्थ हैं उन में से हर एक के क्या जानिये क्या २ गुप्त कारण हैं और क्या २ फल हैं और क्या जानिये एक एक का कितनी और अगणित बातों से संबंध है। उन सभों पर दृष्टि करके परमेश्वर ने इस यन्त्र को बनाया है और उस को आप चलाता है। इस महा बिशाल यन्त्र में से केवल एक भाग के भी अत्यन्त छोटे भाग को हम देखते हैं और जब हम को मालूम पड़ता है कि यदि यह बात ऐसी न होती तो अच्छा होता तब हम उस पर शंका करने लगते हैं। परन्तु परमेश्वर जिस की दृष्टि उस संपूर्ण यन्त्र पर है और

जो जानता है कि इस में की हर एक वात का कौन २ वात के साथ संवंध है और हर एक का क्या फल है और सव मिलकर अंत को कैसे परिणाम को प्रगट करेंगी वही जानता है कि मैं ने जो वात जैसी वनाई है वह सर्वथा ठीक और अपने योग्य स्थान पर है। जव किसान अपने वहुमूल्य वीज को मिट्टी में डालता और उस पर से पटिया फेरता है तव यदि कोई अज्ञानी जन उसे कहे कि अरे यह तूने क्यों बीज का नाश किया तो क्या वह किसान हंसके न कहेगा कि थोड़ा सा धीरज धरो तो देखोगे कि जिस को तुम अभी नाश समझते हो उस का परिणाम अंत को अत्यंत शुभ और हितकारी होगा। इसी प्रकार से जानो कि ईश्वर ने भी जो यह विश्व रचा है सो अत्यंत उत्तम परिणाम के लिये रचा है पर अभी हम उस को नहीं जान सकते वरन कितनी वातें हम को उलटी पुलटी और कितनी निष्फल और अयोग्य सी भी जान पड़ती हैं। क्योंकि परमेश्वर के इस विश्वरूपी महा यन्त्र के चलाने के जो नियम हैं और उस के विषय में जो उस के बिचार हैं सो ऐसे गंभीर हैं कि हमारी तो क्या वरन स्वर्गीय दूतों की भी बुद्धि चकित हो जाती है। उस के बिचार की नेवें अनादि भूत काल में धरी गई हैं

और उस के शिखर मानों अनंत भविष्यकाल में घुसे हुये हैं । पर निश्चय करो कि सब बातें मिलके अंत को ऐसे उत्तम परिणाम को प्रगट करेंगी कि जिस में परमेश्वर की महिमा और उस के परम सुन्दर गुणों का प्रकाश होगा । परन्तु पण्डित लोग इन बातों को नहीं विचारते उन की बुद्धि का यही दोष है जिस की हम पहिले भी चर्चा कर चुके । वे परमेश्वर के भी सब काम और अभिप्राय को यों विचारने लगते हैं कि जैसे किसी मनुष्य के । उन का मन इस बात पर प्रतीति नहीं कर सकता कि परमेश्वर के विचार और काम हमारी बुद्धि से अत्यंत परे हो सकते हैं ऐसा कि हम कितना भी उन का पता लगाने चाहें तथापि न पा सकें । वे इस बात पर विश्वास नहीं कर सकते कि इस परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी अगणित बातें हो सकती हैं कि यद्यपि उन का कोई कारण हम को न मालूम हो तथापि उन के अनेक योग्य कारण हो सकते हैं जिन को परमेश्वर ही जानता है । इसी लिये वे हर एक बात का अपनी ही अल्प बुद्धि से ठिकाना लगाने चाहते और मन माने नियम और सिद्धांत ठहराते हैं । यही उन की सब भूल चूक का कारण है । पर हम तुम्हारी विनती करते हैं कि ऐसी

विचार की रीति छोड़ दो क्योंकि यह अत्यंत कच्ची रीति है। पर अब से नई रीति सीखो तो कभी भूल में न पड़ोगे। जब तुम परमेश्वर के विषय में कोई बात विचारने लगते हो तो पहिले देखो कि कौन २ बात हमारी वुद्धि की सीमा के भीतर है और उस बात में बुद्धि को दौड़ाओ और विचार करो। पर जो बात हमारी वुद्धि से परे है उस के विषय में चुप रहनाही वुद्धि का पूर्ण लक्षण है। क्या जानिये कि परमेश्वर ने इसी लिये अपनी सृष्टि में की कितनी वातों के कारण हम से गुप्त रक्खे हों जिसतें हम नम्रता और ईश्वर की उत्तमता पर दृढ़ विश्वास करना सीखें। और यही भक्ति का एक बड़ा लक्षण है कि यद्यपि हम परमेश्वर की कितनी वातों को ऐसा देखें जिन का कुछ भी कारण हम को न जान पड़े वरन हमारी अल्प दृष्टि में वे अयोग्य भी दिखाई देवें तथापि हम अपने मस्तक को नवाके और अचल बिश्वास से मान लेवें कि वे सब उत्तम और योग्य हैं। और इस बात में हमारी नम्रता और बिश्वास की दृढ़ता की परीक्षा है। पर इस विषय में एक बात आवश्यक है कि पहिले हम को यह निश्चय हो कि यह बात परमेश्वर ही की है तब अलबत्ता हम को नम्रता से उस को

मान्ना योग्य होगा । पर तुम्हारे वेद पुराणों में जो बातें ईश्वर के विषय में लिखी हैं उन पर यह बात नहीं लगा सकते क्योंकि उन के विषय में यह निश्चय नहीं हो सकता कि वे ईश्वर की ओर से हैं । वरन हजारों बातों से यह अत्यंत स्पष्ट होता है कि वेद पुराणादिक ग्रंथ केवल मनुष्यों की कल्पना है । परन्तु जो बातें हम साक्षात् ईश्वर की सृष्टि में देखते हैं जैसे कि बालकादिकों का दुःख भोगना इत्यादि उन के विषय में तो कुछ संदेह नहीं कि वे ईश्वर की ओर से हैं अथवा नहीं । और उन्हीं के विषय में हम ने कहा कि नम्रता से मान लेना चाहिये ॥

और इसी प्रसंग में हम और भी एक बात तुम से कहते हैं कि खिस्तीय शास्त्र में भी जो परमेश्वर का सत्य शास्त्र है बहुत सी ऐसी बातें हैं जो हमारी बुद्धि में नहीं आ सकतीं । परन्तु खिस्तीय शास्त्र में यह एक उत्तमता है कि जो जो बातें उस में शंका करने के योग्य हैं सो केवल वेही हैं जो हम साक्षात् ईश्वर की सृष्टि में देखते हैं अथवा ठीक वैसीही हैं। इस लिये यदि कोई उन बातों के कारण से खिस्तीय शास्त्र की सच्चाई पर संदेह करेगा तो उस को ईश्वर की सृष्टि पर भी संदेह करना पड़ेगा । इस लिये

यदि हम खिस्तीय शास्त्र में वेही बातें पाते हैं जो ईश्वर की सृष्टि में साक्षात् देखते हैं तो हम क्योंकर उस पर शंका करें। केवल यही एक दोष कदाचित् तुम खिस्तीय शास्त्र पर लगाओगे कि वह ऐसी कठिन २ बातों का कारण हम को क्यों नहीं बतलाता जिसतें हमारी शंका दूर हो जायें। पर देखो क्या ईश्वर अपनी सृष्टि की कठिन २ बातों का कारण हम को बतलाता है। तो केवल कारण न बतलाने से क्योंकर दोष लगा सकते हैं। वरन इस में तो खिस्तीय शास्त्र की अधिक उत्तमता प्रगट होती है। क्योंकि वह ईश्वर का शास्त्र है मनुष्य का नहीं इस लिये वह हम को गुरु और प्रभु के समान सिखाता है और आज्ञा करता है न कि वादी होके हम से वाद करने चाहता है। और जिस प्रकार से हम को ईश्वर की सृष्टि की उन बातों को जो हमारी समझ में नहीं आतीं नम्रता से मान लेना योग्य है वैसाही ईश्वर के शास्त्र में की भी वैसी बातों को नम्रता से मान लेना अवश्य है क्योंकि हम ने कहा कि इस शास्त्र की जिन २ बातों पर शंका होती है वे केवल वेही हैं जो ईश्वर की सृष्टि में देख पड़ती हैं अथवा ठीक वैसीही हैं। इस के सिवाय खिस्तीय शास्त्र के ईश्वरीयत्व के सिद्ध करने

के लिये अनेक अंतर्गत और बाह्य प्रमाण भी हैं। यदि तुम उन ग्रंथों को जो उस शास्त्र के प्रमाण निरूपण पर लिखे हैं पढ़ोगे और विचारोगे तो यह बात तुम को मालूम होगी। सो जब कि इस बात के साधक अनेक प्रमाण हैं कि ख्रिस्तीय शास्त्र ईश्वरीय है तो उस की बातों को मान लेना आवश्यक है। पर ये दोनों बातें वेद पुराणादिकों में नहीं। क्योंकि पहिले तो जो बातें उन में शंका के योग्य हैं सो कुछ वे नहीं हैं जिन को हम साक्षात् ईश्वर की सृष्टि में देखते हैं। फिर वे कुछ ऐसी गंभीर और गहन भी नहीं हैं जिन के विषय में हम कह सकें कि हां ये बातें हमारी बुद्धि से परे हो सकती हैं। वरन वे ऐसी हैं कि जिन के पढ़ने से विचार करने से और मान्ने से मनुष्य का स्वभाव और मन अत्यंत भ्रष्ट होता है। जैसे ब्रह्मा विष्णु महादेव कृष्ण इत्यादिकों के भ्रष्ट चरित्र हैं। और यह उन के लिये एक स्पष्ट प्रमाण है कि वे कुछ ईश्वर की उन गंभीर और गहन बातों में से नहीं हैं वरन मनुष्यों के भ्रष्ट स्वभाव और मन के सोते से निकली हैं। फिर दूसरी बात जो ख्रिस्तीय शास्त्र के लिये है सो भी वेद पुराणादिकों के लिये नहीं है। अर्थात् उन के लिये कोई ऐसे अन्तर्गत और बाह्य प्रमाण नहीं

हैं जिन से उन का ईश्वर की तरफ से होना सिद्ध हो वरन इस के उलटा जिधर जिधर से उन को परखते हैं उधर से उन की झूठाई ही सिद्ध होती है॥

अब हम इस प्रासंगिक विचार को छोड़के फिर न्याय और वैशेषिक की बातों का विचार करें। जीवों के अनादि माने में न्याय के मत में यह भी एक बड़ा दोष ठहरता है कि ईश्वर और जीव में जो वास्तविक संबंध है उस में न्यूनता आती है तब उस संबंध के कारण से जीवों को जो जो ईश्वर के विषय में करना है उस में भी न्यूनता आती है। क्योंकि जब हम इस बात को मानते हैं कि हम को जीव शरीर समेत ईश्वर ही ने उत्पन्न किया है और हमारी स्थिति और जो कुछ हमारा है सब उसी से है तब हम पर ईश्वर का पूर्ण अधिकार ठहरता है और इस कारण से हम को यह उचित ठहरता है कि अपने सर्व अन्तःकरण से और सर्व भाव से ईश्वर से प्रेम करें उस का आदर करें और उस के हो रहें। पर जब कोई ऐसा माने कि जीव तो स्वतःसिद्ध है और जो कुछ वह ईश्वर से पाता है सो अपने ही कर्म से पाता है तब तो ईश्वर का स्वामित्व जीव पर अत्यंत एकदेशी ठहरा इस लिये

जीव को भी जो कुछ परमेश्वर का प्रेम और आदर करना है सो भी एकदेशी ही ठहरेगा॥

---

३ तीसरा अध्याय॥

जिस में न्याय और वैशेषिक और और दर्शनकर्त्ताओं का जीव की दुर्दशा के अर्थात् उस के बंध के कारण और उस से छूटने के उपाय के विषय में जो मत है उस की परीक्षा है और धर्माधर्म के यथार्थ स्वरूप का संक्षेप में वर्णन है और दर्शनकारों का धर्माधर्म और उन के फल आदि के विषय में जो मत है उस की परीक्षा है॥

अब और एक बात जो हम को जान्ना अवश्य है सो यह है कि हम जीव की दुर्दशा और उस के कारण को और उस के दूर होने के उपाय को जानें पर इन बातों के विषय में जो वर्णन न्याय और वैशेषिक और और दर्शनों में किया है उस में भी बहुत भूल है। सब दर्शनकार इस बात को तो मान लेते हैं कि सब मनुष्य दुर्दशा में हैं और उन के मत के समान दुर्दशा यही है कि बार २ जन्म लेना अनेक दुःख भोगना इत्यादि। परन्तु हमारी समझ में यह मनुष्यों की दुर्दशा नहीं है परन्तु सच

मुच जो उन की दुर्दशा है सो इस से भी अत्यंत भयङ्कर है। पर भला इस वात को छोड़के यदि हम उन से पूछें कि जो कुछ मनुष्यों की दुर्दशा है उस का कारण क्या है तो वे कहते हैं कि अज्ञान है और वह अज्ञान यही है कि मनुष्य अपने को शरीरादिकों से अभिन्न समझता है। फिर यदि हम पूछें कि ऐसा समझने से क्या हानि होती है। तो वे कहते हैं कि शरीर को आत्मा से अभिन्न मान्ने से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं उस करके मनुष्य भले और बुरे काम करने लगता है उन से धर्म और अधर्म उत्पन्न होते हैं तव उन के फल भोगने के लिये वार २ जन्म स्वर्ग नरक और सुख दुःख प्राप्त करना पड़ता है और यही मनुष्य की दुर्दशा है। इस लिये वे समझते हैं कि जव जीव को यह ज्ञान प्राप्त होगा कि मैं शरीरादिकों से भिन्न हूं तव सारी दुर्दशा से छूटकर मुक्त होगा। इस वात का पूरा वर्णन प्रथम भाग के दूसरे अध्याय में देख लेओ। पर इस विषय में शास्त्रकारों के जितने सिद्धान्त हैं उन सभों में हम को वड़ी ही भूल देख पड़ती है जिस का हम क्रम से इस अध्याय में वर्णन करते हैं और पढ़नेवाले से हम यह विनती करते हैं कि यह विषय वड़ा भारी है क्योंकि यह हमारे अनमोल

आत्मा के निस्तार से संबंध रखता है इस लिये पक्षपात को छोड़के मन की स्थिरता और धीरज के साथ इन बातों को सोचे ॥

पहिले तो ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े होंगे जो शरीर और आत्मा को सर्वथा अभिन्न समझते हों। प्रायः सब मनुष्य जानते हैं और मानते हैं कि आत्मा जो चेतन है और शरीर जो जड़ है उन दोनों के तत्त्व भिन्न २ हैं। पर तुम कहते हो कि सब मनुष्य कहते हैं कि मैं काला हूं गोरा हूं इस से प्रगट होता है कि उन को इस विषय में अज्ञान है। तो हम कहते हैं कि ऐसा कहने में कुछ अज्ञान नहीं है। क्योंकि यद्यपि आत्मा और शरीर तत्त्व से भिन्न हैं तथापि उन दोनों में परमेश्वर ने ऐसा दृढ़ संबंध रक्खा है कि मानो वे दोनों मिलके एक हो रहे हैं और उन दोनों को मिलाके मनुष्य कहते हैं। इस लिये जब मनुष्य कहता है कि मैं तब वह केवल अपने आत्मा को अथवा केवल शरीर को नहीं कहता परन्तु दोनों को मिलाकर कहता है। और इसी लिये यद्यपि वह शरीर की बातें अपने पर लगावे जैसे मैं काला गोरा इत्यादि अथवा आत्मा की बात अपने पर लगावे जैसे मैं ज्ञानी अज्ञानी इत्यादि तो इस से यह नहीं सिद्ध होता कि उस को

यह बात मालूम नहीं है कि मेरा आत्मा शरीर से भिन्न है । यह तो प्रगट है कि मनुष्य कभी २ संपत्ति आदि को भी मानों अपने साथ एक करके मानते और संपत्ति के क्षीण होने से कहते कि हम क्षीण हो गये पर इस बात का किस को विश्वास होगा कि ऐसा कहनेवाले लोग सच मुच संपत्ति को अपना आत्मा ही समझते हैं । फिर यह बात बोलनेवाले की इच्छा के अधीन है । क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि शरीर और आत्मा के बीच में मनुष्य का मुख्य और उत्तम भाग तो आत्मा ही है इस लिये कभी २ मनुष्य अपने को केवल आत्मा ही मानके और शरीर को केवल एकदेश जानके ऐसा भी कहता है कि मेरा शरीर मैं इस शरीर को छोड़के जाऊंगा इत्यादि । सो तुम जो काला हूं गोरा हूं ऐसे वाक्यों से मनुष्यों को महा अज्ञान कूप में गिरे समझके उस अज्ञान को सारे अनर्थ का कारण ठहराते हो सो सर्वथा निर्मूल है ॥

फिर यद्यपि कितने लोग ऐसे अज्ञानी हों कि शरीर ही को आत्मा समझें तथापि उन को यह सिखाने से कि तुम्हारा आत्मा शरीर से भिन्न है वे भले और बुरे कामों के करने से न बच सकेंगे । पर पण्डित लोग समझते हैं कि उन का ऐसा जान्ना

अवश्य उन को भले और बुरे कामों से बचावेगा। क्योंकि जब मनुष्य आत्मा को शरीर से भिन्न समझेगा तब वह यह भी मानेगा कि शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश नहीं होता वरन वह मरने के अनन्तर भी रहता है और उस को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। और जब वह यह सोचेगा कि पाप और पुण्य के फल भोगने के लिये कैसे नरक में और स्वर्ग में जाना पड़ता और यद्यपि स्वर्ग में सुख मिलता है तथापि वह कैसे अनेक प्रकार के दुःख से मिश्रित रहता है और अन्त को जब उस का भोग पूरा होता है तब कैसे वह सुख भी दुःख का कारण होता है वैसेही बार २ जन्म मरण के चक्र में भ्रमते फिरना और अनेक सुख दुःख भोगते रहना इत्यादि कैसी बड़ी दुर्दशा है और शास्त्रों के अनेक हितोपदेशों से जब उस की दृष्टि में इस लोक और परलोक के समस्त सुखों की अत्यन्त तुच्छता प्रगट हो जायगी तब वह मनुष्य अवश्य करके पुण्य और पाप से उदास होके सुकर्म और दुष्कर्म के करने से अलग रहेगा। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि यह आशा व्यर्थ है। क्योंकि हम कह चुके कि बहुधा सब मनुष्य इस बात को जानते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है। तुम जाके किसी मनुष्य को जो

बड़ाही मूर्ख है इस विषय में पूछो तो वह भी कहेगा कि हां मरने के पीछे मुझ को अपने कर्मों का फल भोगना है। पर क्या यह ज्ञान उन को सुकर्म दुष्कर्म से अलग रख सक्ता है। पर कदाचित् यह कहो कि वे मूर्ख लोग यद्यपि इस बात को जानते हैं तथापि उस पर अच्छे प्रकार से मन नहीं लगाते इस लिये उन के राग द्वेष दूर नहीं होते पर जो इन बातों का श्रवण मनन निदिध्यासन करेंगे उन के क्यों न दूर होंगे। पर हम कहते हैं कि मनुष्य के स्वभाव की दशा का अच्छे प्रकार से विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि इतना सब करने से भी राग द्वेष सर्वथा दूर नहीं हो सक्ते। यहां एक बात हम को कहना आवश्यक है कि तुम जो सुकर्म और कुकर्म दोनों को बन्ध का कारण समझते हो सो हमारी समझ में अत्यन्त अयोग्य है और इस विषय में जो पण्डितों की भूल है उस को हम थोड़ा आगे चलके दिखाते हैं। पर दुष्कर्म तो सच मुच बन्ध का कारण है और उस से अलग रहना अत्यन्त आवश्यक है। और चाहता तो था कि मनुष्य लोग दुष्कर्म के भावि दण्ड को सोचके उस से अलग रहते। पर बड़े खेद की बात है कि मनुष्य का स्वभाव ऐसा विगड़ा है कि यद्यपि वह कितना भी विचार करे तथापि सर्वथा

सर्व प्रकार के कुकर्म से अपने को बचाना यह बात उस से कभी नहीं हो सक्ती। क्या केवल ऊपर ऊपर की चोरी हत्या व्यभिचार लड़ाई झगड़ा अन्याय इत्यादिक से बचे रहना यही सब कुकर्म से बचना है। नहीं नहीं। मनुष्य का सारा कर्त्तव्य कर्म इन दो बातों में है कि वह अपने सारे अन्तःकरण से और अपनी सारी बुद्धि से और अपने सारे बल से ईश्वर को प्यार करे और दूसरी बात यह कि अपने समान सब मनुष्यों को प्यार करे। और कोई काम इन दो बातों के विरुद्ध करना अथवा इन बातों में कुछ न्यूनता करना पाप कर्म ठहरता है। पर इन दो बातों का पूरा करनेवाला वही कहलावेगा जिस की सारी इच्छाओं में और मन की सारी चिन्ताओं में और सारे बचन और सारे कामों में ऊपर कहे हुये ईश्वर और मनुष्य के प्रेम के विरुद्ध एक बात भी न पाई जावे। पर ऐसा कौन हो सक्ता है। प्रायः मनुष्य अपनेही भीतर के दोषों को आपही नहीं जानते पर वे उन से छिपे रहते हैं और कितनी ऊपर ऊपर की अच्छी क्रियाओं को देखके अपने को सराहते हैं कि हम तो अच्छे हैं। पर जब मनुष्य विवेक का दीपक लेकर अपने मन की अंधियारी कोठरी में नित्य २ बरन घड़ी २ पैठा करेगा और

उस में के हर एक कोने को देखेगा और अपनी हर एक चिन्ता और वचन और काम को तौलेगा वरन इसी बात का श्रवण मनन निदिध्यासन करेगा तब उस को यह साक्षात्कार होगा जो अलबत्ता बड़े काम का है कि हाय मैं तो अधम पतित दुर्बल निरुपाय पापी हूं । क्या जानिये कितनी छिपी हुई अहंकार की बातें कितनी दम्भ की कितनी कपट की कितनी आपस्वार्थीपन की और कितनी और अगणित प्रकार की बातें जिन का वर्णन नहीं हो सक्ता वह अपने में पावेगा और उस को यह निश्चय होगा कि जैसा परमेश्वर का प्रेम चाहिये वैसा मुझ में नहीं है । भाइयो मनुष्य की यह दशा है । इसी लिये जानो कि मनुष्य न ज्ञान से न करनी से बच सकेगा पर केवल परमेश्वर के स्वतन्त्र अनुग्रह से जिस के प्राप्त करने का उपाय ईश्वर के सत्य शास्त्र में लिखा है ॥

फिर तुम तो आप मान लेते हो कि जिस मनुष्य को पूर्ण ज्ञान होता है जिस को तुम जीवन्मुक्त कहते हो उस से भी जब लों वह शरीर में है तब लों पाप पुण्य की क्रिया होती हैं । क्योंकि तुम कहते हो कि ज्ञानी का संचित कर्म नष्ट होता है और क्रियमाण उस को लिप्त नहीं कर सक्ता । तो इस से सिद्ध

है कि पाप पुण्य की क्रिया उस से होती है तब यह बात कहां सच ठहरी कि इन सब का कारण अज्ञान ही है और तुम्हारे इस ज्ञानी में और अज्ञानी में क्या भेद ठहरा। यदि तुम कहो कि यही बड़ा भेद है कि अज्ञानी के शुभाशुभ कर्म उस को बद्ध करते हैं पर ज्ञानी को उस के कर्म बद्ध नहीं कर सक्ते तो इस बात की भूल हम आगे चलके प्रगट करेंगे ॥

इस विषय में जो और अधिक भूल दर्शनकार करते हैं सो यह है जो वे कहते हैं कि धर्म भी जीव के लिये बंधनरूपी है। यह दर्शनकारों की कैसी बात है क्योंकि अधर्म तो बंधन है सही पर धर्म किस प्रकार से बंधन होगा। पर सच बात यह है कि दर्शनकारों को धर्माधर्म के तत्त्व का ठीक ज्ञान नहीं है इसी लिये वे ऐसी नानाविध भूल में पड़ते हैं। इस लिये अब हम पहिले धर्माधर्म के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन करेंगे तब पीछे से दिखावेंगे कि दर्शनकर्त्ता इस में कैसी भूल करते हैं ॥

ईश्वर ने मनुष्य को विवेकवान प्राणी बनाया है। ऐसा कि उस में ईश्वर को जान्ने की और ईश्वर में और अपने में जो संबंध है उस को जान्ने की और अपने में और सृष्टि के और पदार्थों में जो संबंध है उस को भी जान्ने की योग्यता है। और

इसी प्रकार से अपने जन्मदाता और स्वामी ईश्वर के विषय में आदर और प्रेम करने की और सृष्टि के जो और पदार्थ हैं उन में से जिस के साथ जैसा व्यवहार करना उचित है उस के साथ वैसा व्यवहार करने की भी उस में योग्यता है। फिर उस में यह भी योग्यता है कि इन बातों के करने को वह भला समझता है और उस के विरुद्ध करने को बुरा समझता है। सो यह सब योग्यता जिस में है उसी को हम विवेकवान् प्राणी कहते हैं। सो अब समझो कि मनुष्य के इस प्रकार का विवेकवान प्राणी होने के कारण से उस के पद और स्वभाव के अनुसार कितनी बातें उस के लिये स्वभावतः उचित ठहरती हैं जैसे ईश्वरभक्ति न्याय सत्य दया इत्यादि। और कितनी बातें उस के लिये स्वभावतः अनुचित ठहरती हैं जैसे नास्तिकता परापकार निर्दयता मिथ्या भाषण इत्यादि। सो इस प्रकार से जो जो बात मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुसार उचित ठहरती है वही धर्म्म है और जो जो अनुचित है सोही अधर्म्म है। अब परमेश्वर स्वभावतः उत्तम और न्यायी है इस लिये जो जो क्रिया मनुष्य को उचित है सोई स्वभावतः उस को इष्ट होती है और जो जो अनुचित है सो अनिष्ट होती है। और परमेश्वर को अपने न्यायी

स्वभावही के कारण से अवश्य है कि वह धर्मी पर अनुग्रह करे और अधर्मी को दण्ड देवे ॥

सो इस में तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिये । पहिले यह कि ईश्वर ने धर्माधर्म के नियम को बिना कारण यदृच्छा से नहीं स्थापित किया है परन्तु मनुष्यों के स्वभाव और पद के अनुसार जो उस को उचित ठहरता है उस को धर्म और जो अनुचित ठहरता है उसी को अधर्म ठहराया है। इस लिये मनुष्य को अधर्माचरण करना किसी दशा में योग्य न ठहरेगा और धर्म करना किसी दशा में अयोग्य अथवा अनावश्यक नहीं ठहरेगा। दूसरे यह कि ईश्वर जो धर्मी पर अनुग्रह करता और अधर्मी को दण्ड देता है सो कुछ इस लिये नहीं कि हमारे धर्माधर्म से उस को कुछ लाभ अथवा हानि है। परन्तु यह केवल उस के न्यायी स्वभाव के कारण से है। क्योंकि न्याय गुण का यही स्वभाव है कि धर्मी को उस की साधुता के शुभ फल देना और दुष्ट को उस की दुष्टता का कड़वा फल चखाना। सो यदि यह बात ईश्वर में न हो तो वह न्यायी न रहेगा। और तब यह एक उस के निरतिशय उत्तम और पूर्ण स्वभाव में न्यूनता ठहरेगी। तीसरी बात यह है कि धर्म और अधर्म से जो इष्ट और

अनिष्ट फल होते हैं सो उन क्रियाओं से आप से आप नहीं निकलते परन्तु उन क्रियाओं के अनुसार उन के फलों का देनेवाला ईश्वर है । यह तो है कि धर्माचरण मनुष्य के स्वभाव और पद के ऐसा अनुकूल है और अधर्माचरण ऐसा प्रतिकूल है जिस के कारण से जब मनुष्य धर्माचरण करता है तब आप से आप उस्से मन का सुख और शांति पाता है और अधर्म का पीछा करने से मन की व्याकुलता भोगता है । तथापि धर्माधर्म के उन स्वाभाविक फलों को छोड़ दिव्यलोक का आनन्द और नरक की पीड़ा इत्यादिक जो अनेक फल हैं सो सब उन क्रियाओं से आप से आप नहीं निकल सकते परन्तु ईश्वर उन्हें देता है ॥

यही धर्म अधर्म और उन के फलों का वृत्तांत है परन्तु मनुष्य की मति ईश्वर के न्याय पवित्रतादि गुणों के विषय में जब अंधी हो गई तब उस की धर्माधर्म की पहिचान भी मलिन हो गई और उस ने इस विषय में अनेक प्रकार के विपरीत मतों की कल्पना किई । यहां के दर्शनकारों की यही दशा भई । धर्माधर्म के नियम का जो कारण हम ने बताया उस को वे नहीं जानते क्योंकि यदि वे जानते तो न कहते कि धर्म और अधर्म दोनों बन्ध के कारण

हैं और जो मुक्ति की इच्छा करता है उस को दोनों से रहित होना चाहिये ॥

नैयायिक वैशेषिक और दूसरे दर्शनकर्ता धर्म को भी बन्ध का कारण समझते हैं इस का हेतु यह है। वे कहते हैं कि धर्म जीव को मुक्त होने से रोकता है। क्योंकि मुक्ति तो वही कहलाती है जिस में जीव शरीर मन और ज्ञान इच्छादिकों से रहित होता है परन्तु धर्म अपना सुखरूपी फल देने के लिये जीव से बरबस देव मनुष्यादिकों का शरीर धारण कराता है जब लों उस का भोग न हो चुके। फिर धर्म का फल जो सुख है सो भी विवेकवान के चाहने के योग्य नहीं है क्योंकि वह दो प्रकार से दुःख मिश्रित है। पहिले यह कि वह क्षय होनेवाला है। क्योंकि उन का नियम है कि जो जो उत्पन्न होता है सो विनष्ट होता है इस लिये धर्म का फल भी नष्ट होगा। और जब मनुष्य को कोई सुख मिलता है तब वह सुखी होता है पर जब वह सुख नष्ट होता है तब उस्से दुःख होता है इस लिये ऐसा सुख भी दुःखरूपी है। दूसरे यह कि धर्म के फल में भी तारतम्य है अर्थात् जिस का धर्म कम है उस को कम फल मिलेगा और जिस का धर्म अधिक है उस को अधिक फल मिलेगा। सो जिस ने कम फल

पाया है वह अधिक फल पानेवाले को देखके दुखि:त होगा इस लिये भी उस का सुख दुख:रूपी ही ठहरा। इस प्रकार से सब सुख दु:खरूपी हैं इस लिये सुख और दु:ख से छूटके जड़वत हो रहना ही परम पुरुषार्थ है ॥

पर देखो यह कैसी बड़ी भूल है। हम ने दिखलाया कि परमेश्वर ने उसी को धर्म कर्म करके ठहराया है जो मनुष्य के स्वभाव के अनुसार उस को उचित और अत्यन्त आवश्यक ठहरता है और जिस के न करने से मनुष्य न्याय के अनुसार से दोषी और दण्ड के योग्य होता है तो जो कर्म मनुष्य को ऐसा उचित और आवश्यक है क्या उस का फल कभी अनिष्टरूप हो सक्ता है। तुम्हारी समझ में जो सुख धर्म कर्म का फल है उस की आकांक्षा करना यदि बिवेकी को अयोग्य है तो वह एक अनिष्ट बस्तुही ठहरी। फिर यदि ज्ञान इच्छादि से रहित होके जड़रूप बन्नेही में तुम जीव का सच्चा कल्याण समझते हो तो बरन तुम को ऐसीही दशा को धर्म का फल कहना उचित होता। इस विषय में तुम्हारी कैसी उलटी पुलटी समझ है। क्या परमेश्वर ने इस धर्माधर्म के नियम को बिना कुछ कारण केवल चिड़ियों की नाईं जीवों को बझाकर उन का कौतुक

देखने के लिये एक जाल वना रक्खा है। कि मानों कितने कर्मों को पाप कर्म और कितनों को पुण्य कर्म ठहरा दिया है कि वे कभी इस फन्दे में और कभी उस फन्दे में फंसा करें। पर यदि ईश्वर ने केवल अपने न्यायी और उत्तम स्वभाव के कारण उन्हीं क्रियाओं को पुण्य क्रिया करके ठहराया है जो जीव के स्वभाव के अनुसार उस को उचित और अत्यन्त आवश्यक ठहरती हैं तो वह परमेश्वर जो दया का और भद्रता का सागर है और सभों का पिता होके सभों का केवल कल्याण ही चाहता वरन अनुचितकारियों के भी कल्याण के लिये एक राह और उपाय की कल्पना करता है सो क्या उचितकारी को वही वात न देगा जिस में उस का सत्य कल्याण है वरन क्या उस के वदले उस को अनिष्ट फल देगा। पर सच वात यह है कि जड़ता की दशा प्राप्त करना सच्ची मुक्ति नहीं है और जो लोग ईश्वर के अनुग्रह से सच्ची मुक्ति के अधिकारी होते हैं उन को ज्ञान इच्छादिकों से कुछ हानि नहीं है इस वात को हम आगे चलके दिखावेंगे॥

फिर तुम जो कहते हो कि धर्म का फल जो सुख है सो क्षय होनेवाला है सो भी ठीक नहीं। यह वात तो हम आगेही दिखा चुके कि तुम्हारा जो यह

नियम है कि जो जो उत्पन्न होता है सो सो नष्ट होता है सो सर्वथा निर्मूल है। फिर क्षय होनेवाला सुख यदि दुःखरूपी है तो वह धर्म का फल नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य को जो करना उचित है सोई धर्म है तो क्या परमेश्वर उचितकारी को दुःखरूपी फल देगा। फिर तुम समझते हो कि धर्म ऐसी वस्तु है कि जिस को केवल एक परिमित काल में करना है और पीछे से चुपचाप बैठे बैठे उस का फल भोगना। और इसी लिये तुम को यह डर है कि कुछ काल में वह फल भी समाप्त हो जायगा। पर हम ने कहा कि धर्म तो वह वस्तु है जिस का करना मनुष्य को सदा आवश्यक है चाहो वह इस लोक में हो चाहो वह और किसी लोक में हो जब लों उस का अस्तित्व है तब लों धर्माचरण करना उस को आवश्यक है। सो जब लों वह धर्म में रहेगा तब लों उस का शुभ फल भी सदा उस के साथ साथ रहेगा पर जब वह धर्म से च्युत होगा तभी उस का फल भी नष्ट होगा। परन्तु इस से जो उस को दुःख होगा सो कुछ धर्म का फल नहीं परन्तु अधर्म का है क्योंकि धर्म से च्युत होना अधर्म है। पर कदाचित् कोई पूछे कि ऐसा निरंतर धर्म करने का किस को सामर्थ्य है सो यदि ऐसे धर्म का फल

अनंत सुख भी हो तथापि उस की आशा करके हम को क्या लाभ है । तो हम कहते हैं कि यह बात तो सच है कि हम सब मनुष्यों का स्वभाव ऐसा भ्रष्ट हो गया है कि हम में धर्म्माचरण का सामर्थ्य नहीं है इस लिये हम यदि अपने धर्म्म पर भरोसा करके परम पुरुषार्थ प्राप्त करने की आशा रक्खें तो कुछ लाभ न होगा । परन्तु परमेश्वर ने हम पापियों पर अनुग्रह करके अपना शास्त्र प्रगट किया है और उस में एक ऐसी राह ठहराई है कि यदि हम उस को ग्रहण करें तो हमारे सर्व अपराध क्षमा किये जायेंगे और तब हम को धर्माचरण का सामर्थ्य मिलेगा और ईश्वर की कृपा से उस की समीपता दिव्य लोक के निवास और अनंत सुख को प्राप्त करेंगे॥

अब तुम्हारी धर्म के फल पर दूसरी शंका यह है कि उस में तारतम्य होगा कि किसी को अधिक फल और किसी को कम फल मिलेगा और यह भी दुःख का कारण है। पर हम कहते हैं कि यह तारतम्य दुःख का वास्तविक कारण नहीं है । क्योंकि ईर्ष्या से जो दुःख होता है उस का वास्तविक कारण उस मनुष्य का भ्रष्ट स्वभाव है । क्योंकि ईर्ष्या तो स्वभाव का एक दोष है वह शुद्ध स्वभाव में नहीं पर भ्रष्ट स्वभाव में रहती है । परन्तु जो लोक ईश्वर की

कृपा से परलोक के सुख के भागी होंगे उन के स्वभाव उसी की कृपा से पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करेंगे। और जिस का स्वभाव शुद्ध है वह यद्यपि यह देखे कि दूसरे को अधिक धर्म करने से अधिक फल मिला है तथापि वह ईर्ष्या न करेगा। परन्तु शुद्ध स्वभाव का यह गुण है कि वह औरों की सुखवृद्धि को देखके और भी सुखी होता है। और इस प्रकार से वह बात जो दुष्ट स्वभाव के लिये दुःख का कारण होती है सो शुद्ध स्वभाव के लिये और सुख की उत्पादक होती है॥

इसी धर्माधर्म के स्वरूप को न जान्ने से पण्डित लोग वह दूसरी भूल करते हैं कि ज्ञान के प्राप्त करने से सब पिछले पाप नष्ट हो जाते हैं और जो उस के क्रियमाण कर्म हैं उन का उस को कुछ लेप नहीं होता अर्थात् ज्ञानी मनुष्य से जो पाप नित्य२ होता जाता है उस का दोष उस को नहीं लगता। पर यह बात अत्यन्त भूल से भरी हुई है। क्योंकि मैं शरीर नहीं हूं ऐसा जान्ने में और पाप के नष्ट होने में क्या संबन्ध है। पाप करना तो वह काम है जो मनुष्य को सर्वथा और सर्व दशा में अनुचित है और इस लिये उस के करने से मनुष्य ईश्वर के साम्हने अपराधी और दण्डय ठहरता है तो क्या उस

के यह जान्ने से कि मैं शरीर नहीं हूं कुछ अदल वदल हो जाती है। यदि कदाचित् यह वात तुम्हारे मन में हो कि मनुष्य जो जो कर्म करता है सो मन इन्द्रिय और शरीर से करता है इस लिये जव उस को यह ज्ञान होगा कि मैं उन सव से भिन्न हूं तो वे कर्म भी उस को वद्ध नहीं कर सकेंगे। तो यह भी वड़े अविचार की वात है। जिस मनुष्य ने खड्ग से हत्या किई है वह यदि यह जाने कि मैं खड्ग से भिन्न हूं तो क्या उस का दोष दूर होगा। फिर यदि संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट होते हैं तो प्रारव्ध भी क्यों नहीं नष्ट होता। देखो ये सव कैसी वेठिकाने की वातें हैं। सो इन सव वातों से यह सिद्धान्त निकलता है कि मैं शरीर नहीं हूं इस ज्ञान से मुक्ति की आशा करना व्यर्थ है क्योंकि यह ज्ञान मनुष्य को न पाप कर्म से और न उस के दण्ड से वचा सकता है॥

देखो इन वातों से स्पष्ट जान पड़ता है कि पण्डित लोग धर्म और अधर्म के तत्त्व को न जानके धर्माधर्म के नियम को एक निर्मूल और याद्दच्छिक नियम मानते हैं। जो जो उन के यहां धर्माधर्म के विषय में लिखा है उस से यह स्पष्ट होता है कि इस विषय में उन की ऐसी कुछ समझ है कि जैसे भिन्न २ पदार्थों

में भिन्न २ स्वाभाविक गुण हैं जैसे अन्न में क्षुधा निवारण करने का और विष में मारने का स्वाभाविक गुण है ऐसेही कितनी क्रियाओं में स्वर्गादि सुख देने का और कितनी क्रियाओं में नरकादि देने का स्वाभाविक गुण है। और जो सुखोत्पादक क्रिया है सोही धर्म क्रिया है और दुःखोत्पादक क्रिया अधर्म क्रिया है। इसी लिये वे समझते हैं कि अज्ञानी पुरुष जिन को स्वर्गादि सुखों का अभिलाष हो वे धर्म का लोभ करें तो करें पर जो इस संसार के सुख और दुःख दोनों से उदास होके दोनों से छूटकर मुक्ति चाहता हो उस को तो इस महा व्याधि से अपना गला छुड़ानाही आवश्यक है। पर सहज में इस से गला नहीं छूट सकता। क्योंकि जब लों मनुष्य अज्ञान दशा में है तब लों वह धर्म के बन्धन से छूटने के लिये यदि चाहे कि मैं धर्म क्रिया करना छोड़ देऊं तो इस से वह अधर्मी हो जायेगा। इस लिये ज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये क्योंकि वही उस का औषध है। फिर अधर्म के विषय में भी ऐसीही उन की समझ है। जैसे कितने पदार्थों में दुःखोत्पादकता का स्वाभाविक गुण है तथापि किसी २ दशा में वह गुण दब जाता है जैसे विष में मारकता का स्वाभाविक गुण है परन्तु किसी २ दशा में विष भी अपना गुण

नहीं करता तैसाही मानों अधर्म क्रिया में यद्यपि नरकादि अनिष्ट उत्पन्न करने का गुण है तथापि ज्ञानी के विषय में वह मानों दब जाता है। क्योंकि ज्ञान उस का मारक है। इस लिये वे कहते हैं कि ज्ञानी को पाप का लेप नहीं होता। परन्तु विशेष करके यह बात कि वे अन्न विषादि पदार्थों के समान धर्माधर्म क्रिया में सुख और दुःख उत्पन्न करने का स्वाभाविक गुण मानते हैं सो उन की अपूर्व की कल्पना से स्पष्ट प्रगट होती है। वे अपूर्व नामक एक पदार्थ मानते हैं। उस का कारण यह है। वे कहते हैं कि धर्म क्रिया स्वर्गादिक का कारण है और अधर्म क्रिया नरकादिक का। परन्तु यह क्योंकर हो सक्ता है। क्योंकि आज किसी ने धर्म क्रिया किई तो उस्से उसी समय स्वर्ग तो नहीं होता परन्तु बहुत काल के अनन्तर मरने के पीछे स्वर्ग होता है तब वह धर्म क्रिया उस का कारण क्योंकर होगी। कारण तो वह है जो कार्य्य के अव्यवहित पूर्वकाल में होवे। सो यह महा संकट पण्डितों पर आ पड़ा जिस के निवारण करने के लिये वे कहते हैं कि धर्माधर्म की क्रिया से अपूर्व नामक एक पदार्थ मनुष्य में उत्पन्न होता है। और वह उस में तब लों बना रहता जब लों वह मनुष्य धर्माधर्म की क्रिया का फल स्वर्ग

अथवा नरक जो हो उस को प्राप्त न करे। सो इस प्रकार से धर्माधर्म क्रिया उसी अपूर्व के द्वारा से स्वर्ग नरकादिक की उत्पादक होती है। इसी अपूर्व को वे धर्माधर्म कहते हैं। पर हम उन से पूछते हैं कि ऐसे संकट में पड़ने का क्या कारण है। धर्माधर्म क्रिया तो साक्षात इष्टानिष्ट फलों की उत्पादक नहीं है परन्तु परम्परा से है। पर किस प्रकार से परम्परा से उत्पादक होती है। जैसा हम ने कहा कि परमेश्वर जो न्यायी है सो मनुष्यों के धर्माधर्म को देखके आप उन को उन के फल देता है। सो उस का फल जब ईश्वरेच्छा से प्राप्त होता है तो जब ईश्वर की दृष्टि में उचित जान पड़ता है तब वह देता है चाहो तत्काल हो चाहो कुछ काल के अनन्तर हो तब इस विषय में अपूर्व की कल्पना करना क्या आवश्यक है। जब कोई भृत्य किसी की सेवा करता है तो वह प्रतिदिन अपना बेतन पाने का अधिकारी है तथापि उस का स्वामी अपने नियत समय में उस का बेतन देता है चाहो एक मास में अथवा छः मास में अथवा वर्ष में हो। पर कदाचित् कोई कहे तुम ने जो कहा कि भृत्य अपने स्वामी की सेवा करते हुये नित्य २ की सेवा के बेतन का अधिकारी होता है तो हम कहते हैं कि वह भृत्य का बेतनाधिकारी होना सोई अपूर्व

है । तो इस का उत्तर हम देते हैं कि यदि इतनाही तुम कहते तो कुछ दोष न होता । परन्तु तुम अपूर्व को एक वास्तविक और भिन्न पदार्थ मानते हो । क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदिक आत्मा के वास्तविक गुणों में अपूर्व की गणना करते हैं । पर यदि धर्माधर्म क्रिया से अपूर्व नामक एक भिन्न पदार्थ की उत्पत्ति मानते हो तो जो मनुष्य दूसरे मनुष्य की सेवा करता है उस की सेवारूप क्रिया से भी एक अपूर्व की उत्पत्ति मानो क्योंकि जो जो शंका धर्माधर्म क्रिया के विषय में होंगी सोही सेवा कर्म के विषय में भी आवेंगी । और न केवल सेवा के वरन और भी अगणित बातों के विषय में भिन्न २ अपूर्व मान्ने पड़ेंगे । तब तुम्हारे चौबीस गुणों की जगह पर अनन्त गुण हो जायेंगे । फिर इस विषय में जो दोष हम ने पण्डितों पर दिया है सो यद्यपि नैयायिकादिक के मत में ऐसा प्रगट नहीं होता तथापि सांख्य और मीमांसकों के मत में स्पष्ट होता है । क्योंकि वे तो ईश्वर को नहीं मानते तथापि कहते हैं कि धर्माधर्म की क्रिया उसी अपूर्व के द्वारा से स्वर्ग नरकादिक फलों की उत्पादक होती है । यह क्या अंधेर है । क्या इस बात से नहीं स्पष्ट होता कि वे लोग धर्माधर्म क्रिया को अन्न और

विषादि पदार्थों के समान स्वभाव से फल को उत्पन्न करनेवाली समझते हैं। उन की समझ में जैसे बीज से स्वतः अंकुर निकलता है और बढ़के फलों को उत्पन्न करता है ऐसेही इन्द्राय स्वाहा कहके अग्नि में आहुति डालने से स्वभावतः अपूर्व नामे एक अदृश्य वृक्ष उत्पन्न होता है और वह स्वभावतः स्वर्गादिक फलों को फलता है तव ईश्वर का क्या काम। अब यद्यपि हम यह नहीं मानते कि विना ईश्वरेच्छा के बीज से अंकुर भी हो सक्ता है परन्तु यह समझते हैं कि बीज में जो अंकुर उत्पन्न करने का स्वभाव है सो भी ईश्वर ही ने रक्खा है। जैसा कि हम ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में दिखा चुके हैं। तथापि यहां हम को केवल इतना कहना है कि धर्माधर्म क्रिया में और उन के फलों में बीजांकुर की समानता भी नहीं है। इस लिये यदि कोई मूढ़ बीज के विषय में ऐसा भी समझे कि बीज में आप से आप अंकुर उत्पन्न करने का गुण है तथापि धर्माधर्म के फल के विषय में वह ऐसा नहीं कह सक्ता। मानो कि किसी ने हत्या किई कि एक खड्ग को लेके किसी के गले में से आरमार चलाया और उस के शिर को उस के धड़ से भिन्न किया। तो अब कहो कि जैसे बीज में अंकुर उत्पन्न करने का स्वाभाविक गुण है तैसाही

क्या उस क्रिया में भी मरणोत्तर एक नरक के उत्पन्न करने का अथवा जैसे तुम मानते हो दूसरे जन्म में किसी निकृष्ट योनि में जन्म दिलाने का स्वाभाविक गुण हो सक्ता है। यदि कोई इस विषय में भी विवाद करे तो हम कहते हैं कि ऐसा मनुष्य जिस को पदार्थों के स्वरूप को पहिचान्ने के लिये इतना भी सहज विवेक नहीं है संभाषण करने के योग्य नहीं। जब भृत्य अपने सेवा का वेतन पाता है तो क्या उस की सेवा ही बीज के समान वेतन को उत्पन्न करती है अथवा उस का स्वामी उस की सेवा को देखके आप उस को वेतन देता है। अथवा चोर जो चोरी करके वन्दीगृह में जाता है सो क्या उस की चौर्य क्रियाही उस बात को उत्पन्न करती है अथवा राजा उस को वह फल देता है। पर देखो सांख्य और मीमांसक इस महा अज्ञान में फंसे हैं। और दूसरे दर्शनकर्त्ता भी कुछ २ इस दोष में भागी हैं। क्योंकि हम ने इस ग्रंथ के आरंभ में जहां दर्शनों के उन सिद्धान्तों को लिखा है जो सब दर्शनों में समान हैं उन को जो पढ़ेगा सो जान जायगा कि यद्यपि कई एक बातों में दर्शनकर्त्ता एक दूसरे से विरुद्ध हैं तथापि प्रायः मूल बातों में सभों की विचार की रीति और बुद्धि की दौड़ और झुंकाहट समानही है। उन

सभों के घरों की एकही प्रकार की नेव और एकही मसाला और ढांचा है। यद्यपि ऊपर ऊपर की बनावट में कुछ भेद है। और यद्यपि एक प्रकार की भूल एक दर्शन में अधिक प्रगट होती है तथापि उस का बीज औरों में भी रहता है ॥

---

४ चौथा अध्याय ।

जिस में नैयायिक और वैशेषिकों के मत के समान जो मुक्ति की दशा है उसकी परीक्षा है ॥

सो इस प्रकार से न्याय और वैशेषिक का ईश्वर और जीव और जीव की दुर्दशा उस के कारण और उस्से छूटने के उपाय और धर्माधर्मादि पदार्थों के विषय में जो मत है उस का वर्णन हम ने किया। अब एक बात और कहना है जिस को कहके हम इस द्वितीय भाग को समाप्त करेंगे। वह बात यह है कि नैयायिक और वैशेषिकों का ईश्वर आदि विषयक ज्ञान ऐसा अयोग्य है इस लिये वे एक दरिद्र दशा को निःश्रेयस कहते हैं। क्या ज्ञान इच्छादिक सब चेतन धर्मों से रहित होके पाषाण बन जाना यही परमपुरुषार्थ है। ऐसी दशा में और नाश में क्या भेद है। पण्डित लोगों को जो इस विषय में अनेक

शंका होती हैं कि यदि निस्तार की दशा में हम ज्ञान इच्छादिक मानें तो फिर बुरी इच्छा उत्पन्न होकर पाप में पड़ने का डर है और एक दूसरे को देखके ईर्ष्यादिक उत्पन्न होंगे इत्यादि उन के उत्तर में हम कहते हैं कि जो लोग परमेश्वर के सामर्थ्य और उस के अनुग्रह के महत्त्व को न जानें वे ऐसी शंका करें। परन्तु हमारे पास परमेश्वर का सत्य शास्त्र है और उस्से यह प्रगट होता है कि ईश्वर ने जो निस्तार का मार्ग ठहराया है उस का स्वीकार करने से जो लोग ईश्वर के अनुग्रह के भागी होते हैं वे मरणोत्तर दिव्य लोक में जाते हैं और उन के स्वभाव को परमेश्वर ऐसा शुद्ध करता है कि फिर उन को कभी दुष्ट इच्छा ईर्ष्या वैर अहङ्कार आदिक दुष्ट विकारों का डर न रहेगा और वे दिव्यलोक में दिव्य और विकार रहित शरीर को प्राप्त करके ज्ञान इच्छादिक सब चेतन के धर्मों को रखते हुए अनन्त काल तक ईश्वर का साक्षात्कार और उस के समागम और भक्ति आदिक के निरुपम और वर्णनातीत दिव्य आनन्द का और स्वभाव के निर्मल होने से मानसिक प्रसन्नता और शान्ति का उत्तरोत्तर अधिकाधिक अखण्डित भोग करते रहेंगे। सो कहो तो ऐसी दशा को परमपुरुषार्थ कहना योग्य है अथवा उस जड़ता की

दशा को। वह तो परमपुरुषार्थ नहीं वरन महा अधःपात है। तुम कहते हो कि जीव अनादिकाल से हैं और उन्हों ने अगणित जन्म और मरण पाये हैं। और अनादिकाल से कि जिस की कुछ अवधि नहीं इस संसार के घोर दुःख को भोगते आये हैं। तो जब उन में से किसी की आंख खुली और उस ने चाहा कि मैं इस दुर्दशा से छूटूं और उस के लिये भी अनेक जन्म लों जप तप ध्यान धारणा किई तो इस सब का फल अंत को क्या पाया कि पाषाण के तुल्य जड़ हो गया जो दशा केवल नाशरूपही है। तो जीवों के समान दुर्भग कोई न ठहरा कि जब लों रहे तब लों दुर्दशा के अधीन रहे पर उस्से छुटकारे की आशा उन को केवल नष्ट होने में है। यदि हम नास्तिक होके ईश्वर को न मानें और हम को अपनेही प्रयत्न से अपना छुटकारा प्राप्त कर लेना हो तब तो ऐसेही निःश्रेयस की आशा करना हम को योग्य होगा। पर जब हम अचिन्त्यशक्तिमान सर्व भद्रता से परिपूर्ण अति उदार परम दयालु सब मंगलों के दाता ईश्वर को मानते हैं और उसी से उद्धार प्राप्त करने की आशा रखते हैं तो ऐसी दरिद्र दशा से कुछ अच्छे निःश्रेयस की आशा रखना अधिक सयुक्तिक जान पड़ता है। परमेश्वर के सत्य शास्त्र में परम-

पुरुषार्थ की प्राप्ति का कारण ईश्वर का अनुग्रह ही ठहराया है। यद्यपि मनुष्य पापी हुए और अपने पाप के कारण से नरकदण्ड के योग्य हुए तथापि जो उपाय ईश्वर ने ठहराया है उस को यदि वे ग्रहण करेंगे तो ईश्वर के अनुग्रह से वे पापों की क्षमा और ईश्वर की आज्ञा पालने की शक्ति और मरणोत्तर अनन्तानन्द पावेंगे। और इस अनुग्रह की प्राप्ति के लिये उस ने एक ऐसा अद्भुत उपाय ठहराया है कि जिस में उस की अपरम्पार और वर्णनातीत दया भी प्रगट हो और उस के न्याय और पवित्रता में भी कलंक न लगे। सो जब उस ने हम को कृतार्थ करने के लिये अपनी अपरम्पार दया का भण्डारही खोला तो क्या वह हम को केवल पषाण की दशा ही देके कृतार्थ करेगा। नहीं नहीं। जब ईश्वर परमपुरुषार्थ का दाता है तो अनन्तानन्द प्राप्तिही को परमपुरुषार्थ कहना योग्य ठहरता है। परन्तु सत्य बात तो यह है कि यह बात केवल परमेश्वर प्रकाशित शास्त्र के प्रकाश की सहायता पानेही से समझ पड़ती है। जो मनुष्य केवल अपनी बुद्धि से इस बात में तर्क किया चाहे तो वह ऐसाही कुछ सिद्धान्त निकालेगा जैसा दर्शनकारों ने निकाला है कि अचेतन ब्रह्मही निःश्रेयस

है। वे लोग ऐसा कुछ समझते हैं कि मानों अपनेही उपाय और प्रयत्न से अपने को मुक्त करना है। सो वे बेचारे अनन्तानन्द को कहां से ले आवेंगे इस लिये कहते हैं कि जो इतना भी हो सके कि अपने को अचेतन बनाके संसार के ताप से छूट जायें तो मानों सब कुछ प्राप्त कर चुके। पर हे प्यारो यह जानो कि इतना भी तुम नहीं कर सक्ते। जीव को तो ईश्वर ने चेतन बनाया है उस को अचेतन कौन बना सकेगा। जो स्वभाव परमेश्वर ने जीव में रक्खा है सो मैं मन नहीं मैं शरीर नहीं ऐसी भावना करने से दूर नहीं हो सक्ता। परन्तु जानो कि हमारे तुम्हारे जीव अनन्तकाल लों चेतनही रहेंगे। परन्तु दो बातें हमारे हाथ में हैं। परमेश्वर ने अपने सत्य शास्त्र में जो उद्धार का मार्ग बताया है यदि हम उस का स्वीकार करें तो अपनी इस चेतनता को अनन्तानन्द भोगने का कारण ठहरावेंगे। परन्तु यदि उस का स्वीकार न करें तो उसी चेतनता को सदा सर्वदा के अखण्ड क्लेश व्याकुलता और घोर ताप के अनुभव का कारण बनावेंगे। सो यदि तुम अपना कल्याण चाहो तो परमेश्वर के सत्य शास्त्र का ग्रहण करो। और हम ने जो दर्शनों के दोष इस प्रकरण में दिखाये सो कुछ इस लिये नहीं कि निज करके

दर्शनकर्त्ताओं को दोषी ठहराके उन पर हंसी करें। परन्तु हमारा तात्पर्य इस बात के प्रगट करने में है कि क्या वे क्या हम क्या और कोई लोग जब केवल अपनी बुद्धि से पारमार्थिक बातों का विचार करने चाहें तो सर्वथा भूल में पड़ेंगे। क्योंकि इन बातों का योग्य ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि को अशक्य है। सो जब तुम देखो कि खिस्तीय मत में उन बातों का योग्य वर्णन है तब तुम को निश्चय होगा कि यह सचमुच ईश्वरीय मत है। इस लिये हम चाहते हैं कि तुम सरलात्मा होके खिस्तीय शास्त्र को विचारो। पर इस बात के लिये स्थिरता और नम्रता और दीर्घ विचार आवश्यक हैं। क्योंकि जिन बातों को मनुष्य चिरकाल से माने हुए है उन के दोष और उन के विपरीत नवीन बातों की उत्तमता शीघ्र मन में नहीं बैठती। परन्तु नम्रता से परमेश्वर की प्रार्थना करके योग्य विचार करोगे तो सत्य की पहिचान को प्राप्त करोगे॥

यहां षड्दर्शन दर्पण का दूसरा भाग समाप्त भया॥

षड्दर्शन दर्पण।

३ तीसरा भाग।

जिस में वेदान्त मत की परीक्षा है।

१ प्रथम अध्याय।

जिस में वेदान्त मत के सारांश का वर्णन किया है।

हिन्दुओं के षड्दर्शनों में से पांच दर्शनों की परीक्षा संक्षेप में कर चुके अब इस भाग में वेदान्त की परीक्षा करने चाहते हैं। इन दिनों में वेदान्तही की परीक्षा करना हिन्दुओं के लिये बहुत आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि हिन्दू लोग सब दर्शनों को ऋषियों के बनाये हुए समझते हैं तथापि इन दिनों में कोई विरलाही होगा जो उन में से किसी के सिद्धान्तों को मानता हो। परन्तु प्रायः इन दिनों में हिन्दू लोग वेदान्तही के सिद्धान्तों को मानते हैं॥

वेदान्ति लोग तीन प्रकार की सत्ता को मानते हैं जिन को अच्छे प्रकार से समझना और ध्यान में

रखना चाहिये तब उन के मत की सब बातें समझ में आ सकेंगी । उन के यहां एक पारमार्थिक सत्ता दूसरी व्यावहारिक सत्ता तीसरी प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है । जो पदार्थ सचमुच है उस को पारमार्थिक कहते हैं इस लिये उस की सत्ता पारमार्थिक सत्ता कहलाती है । क्योंकि यहां परमार्थ शब्द का अर्थ उत्तम अर्थ न समझना चाहिये पर उस का अर्थ सत्य है । और जो कोई यहां के ग्रंथकर्त्ताओं की बोली को जानता है उस को मालूम है कि कई बार ग्रंथकर्त्ता लोग जब अपने ग्रंथों में किसी बात के ऊपर औरों के भिन्न २ मतों को दिखाके उस मत को दिखाते हैं जो आप उन को इष्ट रहता है तब उस के अन्त में कहते हैं कि "इति तु परमार्थः" जिस का यह अर्थ है कि सच्ची बात तो यह है । सो वेदान्तियों के मत में इस प्रकार से पारमार्थिक अर्थात् सचमुच सत्य पदार्थ तो एक ब्रह्मही है । पर अब उन के यहां एक दूसरे प्रकार का पदार्थ जो कहलाता है सो व्यावहारिक है जो सचमुच नहीं है पर जिस को अज्ञानी लोग अज्ञान से कहते हैं कि है इस लिये वह व्यावहारिक कहलाता है । सो वेदान्तियों के मत से व्यावहारिक अर्थात् ऐसे पदार्थ जो सचमुच नहीं हैं पर अज्ञान से हैं करके माने जाते हैं सो वे हैं जिन

को और सब लोग सत्य करके कहते हैं जैसे जगत् के सब पदार्थ। और इन पदार्थों की जो सत्ता है अर्थात् अज्ञान से मानी हुई सत्ता सो व्यावहारिक सत्ता कहलाती है। अब तीसरे प्रकार का पदार्थ प्रातिभासिक पदार्थ है। यह भी व्यावहारिक के समान सचमुच नहीं है पर भ्रम से भासता है। व्यावहारिक में और इस में भेद यह है कि इस को जगत के सब अज्ञानी लोग सत्य करके नहीं मानते पर यह केवल कभी २ किसी को भ्रम से सत्य करके मालूम होता है जैसे शुक्ति रजत और स्वप्न के पदार्थ। सो व्यावहारिक में और प्रातिभासिक में दो बातों का भेद है। व्यावहारिक सब लोगों को सर्वदा सत्य करके भासता है प्रातिभासिक किसी २ को कभी २ भासता है। फिर व्यावहारिक के सत्य करके देख पड़ने में केवल अविद्या अर्थात् अज्ञानही कारण है पर प्रातिभासिक के देख पड़ने में अविद्या भी कारण है और उस के सिवाय दूरत्वादिक दोष जो नैयायिकादिकों के यहां भी प्रसिद्ध हैं कारण हैं। (देखो इस का वर्णन वेदान्त परिभाषा में) इस प्रातिभासिक पदार्थ की जो सत्ता है अर्थात् भासमान सत्ता सो प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है। यही वेदान्तियों की पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक नामे तीन प्रकार की सत्ता का वर्णन है॥

सो अब वेदान्ती यद्यपि पारमार्थिक दशा में एक ब्रह्म के सिवाय सारे संसार को झूठा समझते हैं तथापि व्यावहारिक दशा में वे ईश्वर जीव और सारे जगत को सत्य अर्थात् व्यावहारिक सत्य और एक दूसरे से भिन्न मानते हैं। सो उन का मत दो प्रकार का है एक व्यावहारिक दशाविषयक और दूसरा पारमार्थिक दशाविषयक। व्यावहारिक दशाविषयक मत उन का कुछ २ सब दर्शनों से मिलता है। न्याय और योग के समान वे एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर को और उसी की इच्छा से जगत की रचना को मानते हैं। उन के यहां सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बहुधा सांख्य और योग के समान है। जिस को सांख्य वाले प्रकृति कहते हैं उसी को वेदान्ती माया और अज्ञान कहते हैं। फिर अन्तःकरण और उस की वृत्ति आदिक अनेक बातों में सांख्य और वेदान्त के मत बहुधा समान हैं। परन्तु कई एक बातों में उन में भेद भी है। जिस को उन सब बातों को संपूर्ण रीति से जान्ना हो सो वेदान्त के ग्रंथों को पढ़े। क्योंकि उस मत का संपूर्ण रीति से और विस्तार के साथ वर्णन करने की हमारी इच्छा नहीं है पर केवल उन के मत का जो सारांश है उसी की परीक्षा हम करने चाहते हैं। फिर सब दर्शनकारों

के समान वेदान्ती भी वेद पुराणादिकों को प्रमाण मानते हैं। सुकर्म और कुकर्म और उन के शुभ अशुभ फल भोगने के लिये स्वर्ग नरक में जाना और वार २ जन्म लेना इत्यादि वातों को भी मानते हैं। सो व्यवहार दशा के विषय में जो वेदान्त का मत है उस के सिद्धान्तों के दोष दिखाना यहां कुछ आवश्यक नहीं है। क्योंकि सांख्य और न्याय का जो विचार हम ने किया है उसी में वेदान्त के भी व्यावहारिक दशा के मत का विचार आ गया॥

परन्तु वेदान्तियों का पारमार्थिक दशा का जो मत है सो सभों से भिन्न है। और उस मत का सारा सिद्धान्त इस आधे श्लोक में है॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

इस का अर्थ यह है कि एक ब्रह्म अर्थात् सत् चित् आनन्दरूप आत्मा जिस में न कुछ गुण है न क्रिया है न जिस में मैं तू और वह इत्यादि का भान है जो न किसी को जानता है और न किसी से जाना जाता है जो न अल्पज्ञ है न सर्वज्ञ है न अल्पशक्तिमान है न सर्वशक्तिमान है जिस को न आदि है और न अन्त है न अदल बदल है न किसी प्रकार का विकार है वही एक सत्य पदार्थ है। उस को छोड़के यह सारा जगत मिथ्या है अर्थात् कुछ है ही

नहीं न कभी था न है और न होगा। और जीव जो है सो ब्रह्मस्वरूप ही है। यही वेदान्त के पारमार्थिक दशा के मत का सिद्धान्त है इसी लिये उस को अद्वैत मत कहते हैं क्योंकि उस में केवल एक पदार्थ को छोड़के दूसरे पदार्थ को सत्य नहीं समझते॥

पर अब कोई पूछे कि यदि यह जगत कुछ है ही नहीं तो कैसे देख पड़ता है और जीव यदि ब्रह्म है तो वह जो अपने को ब्रह्म नहीं समझता और अनेक दुःख भोगता है इस का क्या कारण है तो इन बातों पर वेदान्तियों का वही उत्तर है जिस की अभी हम ने संक्षेप में सूचना किई है कि यह सब अज्ञान का प्रभाव है। पर अब हम उस का कुछ विस्तार के साथ बर्णन करते हैं॥

वेदान्ती कहते हैं कि यह जगत जो चारों ओर दृष्ट पड़ता है सो केवल अज्ञान से है अर्थात् यह सब सचमुच ब्रह्मही है पर हम को अज्ञान के हेतु जगत करके दिखाई देता है। जैसे कहीं एक रज्जु पड़ी होवे और किसी को उस पर सर्प का भ्रम होवे तब वह मनुष्य उस को सर्प करके कहेगा पर वह सर्प क्या है केवल रज्जुही है। इसी लिये कहते हैं कि वह सर्प और रज्जु एकही है। तथापि इस्से कुछ यह नहीं सिद्ध होता कि उस रज्जु में सचमुच कुछ विकार

हुआ अथवा वह रज्जु सचमुच सर्प वन गई पर यही कि वह सर्प सी दिखाई दिई। इसी रीति से माना ब्रह्म रज्जु के स्थान पर ठहरा और जगत सर्प के। इस लिये जब कहते हैं कि जगत ब्रह्मही है तो इस्से कुछ यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म सचमुच जगत बन गया पर इस का अभिप्राय यह है कि सचमुच जगत कोई पदार्थ नहीं है पर ब्रह्मही जगत सा दिखाई देता है। अथवा इस का अभिप्राय शास्त्रीय व्यवहार के अनुसार यों कहेंगे कि जगत की जो सत्ता है सो अपनी सत्ता नहीं परन्तु ब्रह्मही की सत्ता है। इसी लिये वेदान्ती ब्रह्म को जगत का विवर्त्तोपादान मानते हैं। वह सचमुच उपादान नहीं अर्थात् ऐसा नहीं जैसे मृत्तिका घट की है जिस्से सचमुच घट बनता है पर वह ऐसा अधिष्ठान है जैसा रज्जु सर्प का अथवा शुक्ति रजत का कि वे सर्प और रजत के अधिष्ठान तो हैं और उन्हीं की सत्ता से उन की सत्ता है तथापि कुछ सचमुच उन से सर्प और रजत नहीं बनते। सो इस को विवर्त्तोपादान मानते हैं। पर माया जो है अर्थात् अज्ञान सो जगत का उपादान है। और जगत के नाम रूप उसी से हैं। सो वेदान्त की बात यह है कि सत चित आनन्द नाम और रूप ये पांच पदार्थ हैं तिन में पहिले तीन तो ब्रह्म के हैं

और पिछले दो माया के हैं । इस लिये सत चित आनन्द जो जगत के सब पदार्थों में हैं सो ब्रह्म से हैं जो जगत का विवर्त्तोपादान है । जैसे शुक्ति रजत में जो सत्ता है सो शुक्ति की है जो उस कल्पित रजत का विवर्त्तोपादान है । और नाम और रूप जो जगत में हैं सो माया से हैं जो जगत का उपादान है ॥

इस वात के पढ़ने से यदि पढ़नेवाले के मन में यह शंका होवे कि माया यदि अज्ञान है और अज्ञान भ्रम है अर्थात् मिथ्या जगत को सत्य करके जान्ना तो वह भ्रम जगत का उपादान कारण कैसे होगा । क्या भ्रम अपने विषय का उपादान कारण होता है । तो हम उसे कहेंगे कि यह वेदान्तियों ही से पूछो । हम को तो इस विषय में वेदान्त मत में वड़ी गड़वड़ और असंगति मालूम होती है और हम ने चाहा था कि इस विषय में कुछ लिखें पर फिर देखा कि इस में विवाद वहुत वढ़ जायगा और अव हम ऐसी वातों पर विवाद करने से थक गये हैं इस लिये ऐसी वातों को छोड़के केवल मुख्य और सारभूत वातों का विचार करने चाहते हैं । और वेदान्ती कहते हैं कि माया ही भ्रम नहीं है पर वह भ्रम का कारण है । पर फिर माया को अज्ञान भी कहते हैं और उस को ज्ञानाभाव रूप नहीं मानते । तो हम पूछते हैं कि

वह अज्ञान विपरीत ज्ञान के अर्थात् भ्रम के सिवाय और क्या हो सकता है। और यदि वह भ्रम नहीं है तो कौन पदार्थ है और तब वह ज्ञाननिवर्त्य कैसे होगा। क्योंकि ज्ञान से तो केवल भ्रम की निवृत्ति होती है और इसी लिये जो भ्रम के विषय हैं सो भी निवृत्त होते हैं पर इन को छोड़के और किसी पदार्थ की निवृत्ति ज्ञान नहीं कर सक्ता। इस लिये यदि वह माया अर्थात अज्ञान न भ्रम है न भ्रम का विषय है तो ज्ञान से उस माया की निवृत्ति नहीं हो सक्ती। फिर वे माया को ईश्वरशक्ति भी कहते हैं। पर वे तो ईश्वर ही को मिथ्या और अज्ञान कल्पित कहते हैं। क्योंकि ईश्वर तो जगत्कर्त्ता कहलाता है पर वेदान्तियों के मत से शुद्ध ब्रह्म में कर्तृत्वादिक गुण नहीं हैं। पर वे कहते हैं कि केवल अज्ञान से ब्रह्म पर कर्तृत्व का आरोप किया गया है। क्योंकि जब जगतही कुछ नहीं है तो उस का करना कहां से सत्य होगा। इस लिये जगत्कर्त्ता ईश्वर जो है सो भ्रमकल्पित है। और यह माया जिस को ईश्वर की शक्ति कहते हैं उस का ईश्वर के साथ कुछ वास्तविक संबंध नहीं मानते पर उस को केवल आरोपित कहते हैं। जैसा वेदान्तसार में स्पष्ट वर्णन है कि जैसा रज्जु पर सर्प का आरोप होता है वैसाही अज्ञानादि

सकल प्रपञ्च का ब्रह्म में आरोपही है । यहां न केवल आकाशादि प्रपञ्च को आरोपित कहा है बरन अज्ञान को भी उन्हीं आरोपित पदार्थों में परिगणित किया है। और यहां अज्ञान शब्द से वही जो जगदुपादानभूत माया और ईश्वर शक्ति कहलाती है उसी से तात्पर्य है यह बात वेदान्तसार के पढ़ने से स्पष्ट होगी। तो देखो यदि ईश्वर का और माया का संबंधही भ्रमकल्पित है तो वह माया ईश्वर की शक्ति है और उस्से भ्रम है ये बातें क्योंकर हो सकेंगी। सो इस विषय में ऐसी २ गड़बड़ है कि हम उस का कहां लों बर्णन करें। तौभी जहां लों उन का बर्णन हो सक्ता है तहां लों आप आनेवाले अध्यायों में पावेंगे और उस के पढ़ने से जहां लों शक्य है तहां लों आप को क्रम २ से उन बातों से जान पहिचान हो जायेगी। इस लिये अभी हम इन बातों को छोड़के वेदान्तियों का जो जीव विषयक मत है उस का बर्णन करते हैं ॥

वेदान्ती जीव के विषय में यह कहते हैं कि जीव यद्यपि ब्रह्मही है तथापि वह माया के अर्थात अज्ञान के वश में होने से अपने स्वरूप को भूला हुआ है और अन्तःकरण और शरीर को सच्चे समझके और उन का अहङ्कार पकड़के अपने को मनुष्य इत्या-

दिक समझता है । और यद्यपि संसार के सब पदार्थ मिथ्या हैं तथापि अज्ञान से उन को सत्य समझके उन में से कितनों को अपना और कितनों को पराया कहता और कितनों से सुख और कितनों से दुःख मानता है । और इस कारण रागद्वेष उस में उत्पन्न होते हैं जिन के कारण से वह भले और बुरे कर्म करने लगता है । फिर उन कर्मों के फल भोगने के लिये उस को स्वर्ग नरक में जाना और बार २ जन्म लेना पड़ता है । और यद्यपि ये सब बातें मिथ्या हैं तथापि उस को तो सत्य सी जान पड़ती हैं और इसी से उस की सारी दुर्दशा है ॥

फिर वेदान्ती इतर दर्शनों के समान जीव को अनादिकाल से संसार में बद्ध मानते हैं । वे यह नहीं कहते कि माया अर्थात अज्ञान कहीं से अकस्मात उत्पन्न भया और उस ने जीव को बद्ध कर लिया । क्योंकि इस प्रकार से माया के अकस्मात उत्पन्न होने को मान्ना उन को अयोग्य मालूम होता है । क्योंकि इस प्रकार से उस के उत्पन्न होने के लिये कोई कारण नहीं है । और यदि माया का अकस्मात उत्पन्न होना मानें तो जीव के मुक्त होने पर भी फिर कदाचित नये अज्ञान के उत्पन्न होने से फिर उस के बद्ध होने की संभावना होगी । इस लिये वे

कहते हैं कि यह माया अनादिकाल से है और अनादिकाल से जीव बद्ध है और मुक्त होने लों बद्ध रहेगा। परन्तु जो यह बात ऐसी है तो वह सिद्धान्त कहां रहा कि एक अद्वितीय ब्रह्म को छोड़ दूसरा कोई पदार्थ न कभी था न है न होगा। क्योंकि अब तो दो अनादि पदार्थ ठहरे एक माया और दूसरा ब्रह्म। फिर वह सिद्धान्त भी कैसा ठहरेगा कि ब्रह्म सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। क्योंकि जीव तो ब्रह्मही है और वह अनादिकाल से माया से बद्ध होके अशुद्ध और अबुद्ध हो रहा है। इन शङ्काओं के दूर करने के लिये वेदान्ती जो कल्पना करते हैं उस में ऐसी भूल है कि उस का वर्णन नहीं हो सक्ता। वे कहते हैं कि माया ऐसा पदार्थ है जो सत भी नहीं और असत भी नहीं अर्थात है भी नहीं और नहीं भी नहीं। उस को है नहीं कह सक्ते क्योंकि परमार्थ दशा में नहीं है अर्थात सचमुच नहीं है। फिर उस को नहीं भी नहीं कह सक्ते क्योंकि प्रातिभासिक दशा में है अर्थात झूटमूठ है। यही उन के उस वचन का तात्पर्य है जो वे कहते हैं कि (माया सदसद्भ्यामनिर्वचनीया)। ऐसी युक्ति से वे चाहते हैं कि अद्वैत के सिद्धान्त को भी सुरक्षित रक्खें और ब्रह्म को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव भी ठहरावें और जीव के

बद्ध होने और संसार में भ्रमने का भी निर्वाह करें। क्योंकि माया यद्यपि प्रातिभासिक दशा में है तथापि सचमुच नहीं है तब अद्वैत के सिद्धान्त में कैसी हानि पहुंचेगी फिर यद्यपि वह सचमुच नहीं तथापि प्रातिभासिक दशा में है इसी लिये उस ने जीव को बद्ध कर रक्खा है । फिर वे कहते हैं कि जैसे माया केवल प्रातिभासिक है तैसे जीव का बद्ध होना प्रातिभासिक है अर्थात जैसे माया झूठी है तैसे जीव का बद्ध होना भी झूठा है सचमुच जीव न कभी बद्ध था न है न उस को मुक्त होना है ॥

इस लिये हम इस ग्रंथ के पढ़नेवालों से बिनती करते हैं कि जैसे बहुधा साधारण लोग वेदान्त की बात को इस प्रकार से समझते हैं कि मानों ब्रह्म किसी समय में गुणरहित था और पीछे से सगुण होके सृष्टि करने लगा और मानों उसी शुद्ध ब्रह्म में से कोई एक छोटा सा भाग निकलके और वह माया से मोहित होके जीव बन गया और फिर जब वह उस्से मुक्त होगा तो ब्रह्म में मिल जायेगा इत्यादि उस प्रकार से वे न समझें । क्योंकि यद्यपि अति प्राचीन समय के ब्राह्मण लोगों की समझ कुछ ऐसी ही हो (और हम ने जो ऐसी ही कुछ बात सांख्य का विचार करते समय कही थी सो उसी अति प्राचीन मत के

विषय में कही थी) तथापि जैसा कुछ अब सैकड़ों वर्षों से वेदान्त मत माना जाता है उस के सिद्धान्त ऐसे नहीं हैं। वे यह नहीं कहते कि ब्रह्म किसी समय में निर्गुण था और फिर किसी समय में सगुण होके सृष्टि करने लगा। पर वह जैसा अनादिकाल से निर्गुण था वैसा अब भी है और सदा रहेगा। वैसेही उस का सगुण होना और सृष्टि स्थिति संहार आदि करना भी सदा से है। क्योंकि जैसे और सब दर्शनकार वैसे वेदान्ती भी सृष्टि आदिकों को अनादिकाल से मानते हैं। पर पहिली बात पारमार्थिक है और दूसरी व्यावहारिक है। पहिली सचमुच है पर दूसरी सचमुच नहीं है केवल अज्ञानियों ने उस का ब्रह्म पर आरोप किया है। फिर यह भी वे नहीं कहते कि ब्रह्म में से किसी समय कोई अंश निकल आया और माया में फंसके जीव हो गया। पर उन के मत के समान ब्रह्म में कोई अंशांशिभाव नहीं है और न कभी उस के अंश उस्से भिन्न होते और न माया में फंसते हैं। और जीव अनादिकाल से जीव ही है और अनादिकाल से माया में फंसा है क्योंकि माया अर्थात् अज्ञान अनादि है। तथापि जीव ब्रह्म ही है और सदा से ब्रह्म है। इस लिये एक प्रकार से आरोपित अर्थ में उस को

और वरन इस सारे जगत को ब्रह्न का अंश भी कह सकते हैं। हम ने यहां आरोपित अर्थ में कहा क्योंकि ठीक २ वात तो यह है कि जिस रीति से जीव ब्रह्न है उस रीति से वह केवल उस का अंश नहीं पर पूर्ण ब्रह्न ही है और जिस रीति से वह ब्रह्न से भिन्न है उस रीति से वह केवल अंश करके नहीं पर सर्वथा भिन्न ही है। बरन उस रीति से उस को ब्रह्न से भिन्न कहना भी योग्य नहीं पर यह कहना योग्य है कि वह ब्रह्न नहीं है। क्योंकि जिस दृष्टि से वह ब्रह्न नहीं है उस दृष्टि से तो ब्रह्न कहीं है ही नहीं तब उस को ब्रह्न से भिन्न भी क्योंकर कह सकेंगे। क्योंकि जिस दृष्टि से शुक्तिरजत है उस दृष्टि से शुक्ति कहीं है ही नहीं तब शुक्ति रजत को शुक्ति से भिन्न कहना कैसे योग्य ठहरेगा। वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि में शुद्ध ब्रह्न है ही नहीं पर केवल सगुण ब्रह्न अर्थात् जगत्कर्त्ता ईश्वर और जगत और जीव हैं और वे भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तो उस दृष्टि में जीव को ब्रह्न से भिन्न कहने की कहां जगह है। सो व्यवहार दृष्टि से जीव यद्यपि अनादि-काल से जीव है तथापि परमार्थ दशा में वह सदा से सचमुच ब्रह्न है। और यद्यपि यह जीव सदा से ब्रह्न है तथापि न ब्रह्न में न उस के किसी अंश में

किसी प्रकार के अज्ञान का स्पर्श अथवा कुछ विकार हुआ है और न कभी हो सकता है पर वह सदा संपूर्ण रीति से शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव रहता है। इन बातों के देखने से पढ़नेवाले को यह स्पष्ट होगा कि न केवल वेदान्ती इस अज्ञान कल्पित जगत को और उस के कर्त्ता ईश्वर को व्यावहारिक और असत्य कहते हैं पर उन के कल्पक अज्ञान को भी प्रातिभासिक और असत्य ठहराते हैं। और उन की कल्पना करना ही तो जीव का जीवत्व है इस लिये जीवत्व भी व्यावहारिक और असत्य है इस लिये जीव भी एक प्रकार से असत्य है पर केवल एक नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म ही सत्य है। सो यदि कोई हम से पूछे कि यह क्योंकर हो सकेगा कि जीव अनादि-काल से अज्ञान में फंसा हो और फिर वह ब्रह्म ही हो और तथापि ब्रह्म सदा शुद्ध का शुद्ध ही रहे। तो हम कहेंगे कि यह तो निश्चित है कि ऐसा नहीं हो सकेगा पर बिचारे वेदान्ती समझते हैं कि ऐसा हो सकेगा। क्योंकि वे उस अज्ञानही को जिस के कारण से जीव और जगत और ईश्वर इत्यादि प्रपञ्च सत्य सा भास रहा है असत्य समझते हैं। अर्थात् वे कहते हैं कि वह अज्ञान भी कुछ नहीं है तब ब्रह्म

के। किस के कारण से कुछ अशुद्धता अथवा विकार होगा। इस बात का वर्णन आप लोग वहुत स्पष्टता के साथ और वार २ आनेवाले अध्यायों में पावेंगे इस लिये इस पर अधिक विस्तार करना यहां योग्य नहीं है। यह जान्ना चाहिये कि वेदान्त मत की नेओ कहो तो मूल कहो तो अथवा जीव कहो तो यही बात है। जो इस बात के। ध्यान में रखेगा सोई वेदान्त मत के सब तात्पर्य के। समझेगा। और इस ग्रंथ में इस बात के अति स्पष्ट करके वार २ कहने से हमारा तात्पर्य यही समझना चाहिये कि पढ़नेवाले उस्से अच्छी रीति से परिचय प्राप्त करें और उस के। कभी भूलें नहीं॥

और यह भी पढ़नेवालों से हमारी प्रार्थना है कि यह वेदान्त मत बड़ाही बुद्धि का घवड़ानेवाला है इस लिये किसी पढ़नेवाले के। और निज करके किसी अन्यदेशी जन के। हमारे इस ग्रंथ में की कोई बात यदि पहिले पहिल अप्रमाण और मनःकल्पित सी जान पड़े तो उतनेही पर वह निश्चय न करले पर संपूर्ण ग्रंथ के। धीरज धरके पढ़ जाये तो उस की समझ और प्रकार की होगी। क्योंकि हम यह आशा रखते हैं कि जिस बात का प्रमाण वह किसी एक जगह में न पावेगा उस बात का प्रमाण किसी दूसरे

योग्य स्थान में मिल जायेगा और यदि किसी बात पर उस को कोई शङ्का हो तो संपूर्ण ग्रंथ के पढ़ने से और सब बातों को ध्यान में रखने से और उन के तात्पर्य को संपूर्ण रीति से बूझने से वह शङ्का दूर हो जायेगी ॥

जब अन्यदेशीय विद्वज्जन हमारे देश के वेदान्तादिक मतों को विचारने लगते हैं तो हम को उन के विषय में एक बात अत्यन्त संभावनीय जान पड़ती है कि पहिले तो वे यहां के ग्रंथों में के कितने वचनों का जो ठीक २ अर्थ है उस को समझ न सकेंगे और फिर यदि उन की दृष्टि में इन मतों में कोई ऐसी बातें देख पड़ें जो अत्यन्त बे ठिकाने की और असंगत हैं तो वे उन को वैसी न समझेंगे पर उन का और प्रकार का कुछ अर्थ ठहरावेंगे और उन बे ठिकाने की बातों को अत्यन्त सयुक्तिक और उत्तम बनावेंगे । हमारी समझ में जो कोई किसी अन्य देश के मतों को जान्ने चाहता हो उस को यह बात सर्वथा अनुचित होगी कि उन मतों के एक अथवा दो ग्रंथों को कहीं अकेले में बैठके देखे अथवा किसी से पढ़े और झटपट उन पर अपनी कल्पना दौड़ाके उन का व्याख्यान करने लगे । पर यदि वह उन मतों में सचमुच पारङ्गत और उन का तत्त्वज्ञ

होने चाहता हो तो उस को चाहिये कि कई वरसों तक उन के ग्रंथों का अभ्यास करे उन लोगों में जाके रहे और न केवल उन के ग्रंथों की पंक्तियों को पढ़े बरन उन लोगों के मन की समझ को नित्य के सत्सङ्ग से बूझे उन के मुंह की बातों को जिन्हें वे स्वतन्त्र होके स्वेच्छा से बोलते हैं अपने कानों से सुने और तदनुकूल उन के व्यवहार को आंखों से देखे और ऐसा हो जाये कि मानों उन्हीं में उत्पन्न हुआ है तब वह उन के यथार्थ आशय को समझ सकेगा । पर अब हम इस प्रासंगिक बात को छोड़के वेदान्तियों के जीव बिषयक मत का जो बर्णन करते थे उस की अवशिष्ट बातों को कहेंगे ॥

वे कहते हैं कि यह जीव जो माया से बद्ध हो रहा है जब इस ज्ञान को प्राप्त करेगा कि यह सब संसार झूठा है और मैं तो सत् चित् आनन्द ब्रह्म हूं तब सब भ्रमना से छूटकर ब्रह्म का ब्रह्मही हो जायगा । परन्तु ज्ञान के उपजने पर भी प्रारब्ध कर्म के भोग लों शरीर में रहना पड़ता है और तब लों सुख दुःख भी नहीं छूटते । पर प्रारब्ध भोग समाप्त भये पर जब विदेह कैवल्य को प्राप्त करेगा तब पूरी मुक्ति होगी । वेदान्तियों की यह बात भी और सब दर्शनों के समान ही है । और उन के

समान वे यह भी कहते हैं कि इस ज्ञान के प्राप्त करने के लिये बुद्धि की शुद्धि आवश्यक है। और वह अनेक जन्मों तक जप तप तीर्थ यात्रादिक पुण्य कर्मों के करने से प्राप्त होती है। इस ज्ञान के प्राप्त करने के लिये ईश्वरभक्ति करना भी वे योग्य समझते हैं। और पुराणादिकों में जैसा ईश्वर का वर्णन किया है अर्थात् वही विष्णु शिव आदि के स्वरूप में होके प्रगट होता है और अनेक लीला करता है उस बात को भी वेदान्ती मानते हैं। फिर वेद में जो यज्ञ याग आदिक कर्म्म हैं उन का भी करना योग्य समझते हैं। परन्तु वे यह कहते हैं कि यदि मनुष्य संसार से विरक्त होकर केवल ज्ञानाभ्यास करने चाहे और विधि के अनुसार सन्यास करे तो तब उस को यज्ञादि कर्म्म करने का अधिकार नहीं। परन्तु वे कर्म्मकाण्ड को झूठा नहीं समझते। और यद्यपि सन्यास करने पर यज्ञ यागादिक कर्म्म करने का उस को अधिकार नहीं है तथापि विष्णु महादेवादिकों की मानसिक भक्ति करना वे अयोग्य नहीं समझते। इस लिये जो कोई यह बात सुनके कि वेदान्ती लोग केवल निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं ऐसा समझते हैं कि वेदान्ती शिव विष्णु आदि देवताओं को कुछ नहीं मानते और मूर्त्तिपूजादिकों

को अयोग्य जानते हैं और पुराणादिकों को झूठा समझते हैं सो बड़ी भूल में हैं। क्योंकि व्यवहार दशा में वे इन सभों को सत्य और प्रामाणिक मानते हैं। पर पारमार्थिक दशा में तो सब पदार्थों को वरन उपनिषदों को भी जिन से वेदान्त मत निकला है वे झूठा कहते हैं। ये सब वेदान्त मत की मुख्य बातें हैं॥

---

२ दूसरा अध्याय।

जिस में वेदान्त का परमात्मा के विषय में जो मत है उस की परीक्षा है।

प्रथम अध्याय में जो हम ने वेदान्त के सिद्धान्त दिखाये हैं उन के देखने से कैसा खेद मन में उत्पन्न होता है और कैसे यह बात प्रगट होती है कि विना ईश्वर प्रकाशित शास्त्र के जब मनुष्य केवल अपनी बुद्धि से पारमार्थिक बातों का विचार करने लगते हैं तो भटकते २ कहां लों भटक जायें इस का कुछ ठिकाना नहीं है। मनुष्य की बुद्धि इस विषय में उस मार्ग पर जो सीधा और सत्य को पहुंचाता है नहीं ठहर सक्ती परन्तु उस मार्ग की मर्य्यादा का उल्लंघन करके दहिने बायें भटक जाती है॥

देखा पहिले वेदान्तियों का प्रमात्मा के विषय में जो वर्णन है सो कैसा अयोग्य है कि उन्हों ने उस को सर्वथा गुणरहित ठहराया । हम जानते हैं कि वेदान्ती लोग एक ईश्वर को भी मानते हैं और उस को सगुण ही समझते हैं अर्थात् उस में शक्ति ज्ञान ऐश्वर्य्यादिक गुण मानते हैं और उस को नैयायिकों के समान जगत का कर्त्ता भी मानते हैं। परन्तु जैसे वे लोग जगत को केवल व्यावहारिक दशा में सत्य समझते हैं वैसे ईश्वर को भी व्यावहारिक दशा में सत्य समझते हैं । पर पारमार्थिक दशा में ईश्वर और जगत दोनों को असत्य मानते हैं । क्योंकि पारमार्थिक दशा में उन के मत के समान केवल अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है । इस लिये जब हम कहते हैं कि वेदान्ती लोग परमात्मा को निर्गुण ठहराते हैं तो हमारा तात्पर्य्य यह है कि वह वस्तु जो सब से परे और सभों का आधार और सत्यरूप है जिस को हम ईश्वर कहते हैं परन्तु वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं उस को वे निर्गुण ठहराते हैं । क्योंकि जो ऐसी सब से परे वस्तु है उसी को हम ईश्वर कहते हैं और उसी को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं । और उसी के विषय में वेदान्तियों का जो मत है उस को बिचारना

आवश्यक है। और उस को वेदान्ती परमात्मा भी कहते हैं इस लिये हम भी उस को परमात्मा ही कहेंगे। क्योंकि यह नाम ऐसा है कि जो हम दोनों को इष्ट है। सो हम कहते हैं कि वे उस परमात्मा को जो सर्वथा गुणरहित मानते हैं इस में उन की कैसी बड़ी भूल है। जब हम अपने परमात्मा परमेश्वर के विषय में कहते हैं कि उस में ज्ञान इच्छा शक्ति आदिक गुण हैं और वह जगत का कर्त्ता है तो वेदान्ती अपने मन में हंसते हैं और हम को बड़े मूढ़ गिनते हैं क्योंकि उन की समझ में उस में ऐसे गुणों को मान्ना उस के स्वरूप में एक अपूर्णता ठहराना है। पर वे लोग इस बात को नहीं सोचते कि जिस प्रकार के परमात्मा को वे ठहराते हैं वैसे परमात्मा का तो होना ही किसी प्रकार से नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि जब हम जगतरूपी कार्य को देखते हैं तो यह अनुमिति होती है कि इस का कोई कर्त्ता है। सो इसी युक्ति से एक जगत्कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है। पर उस के सिवाय एक अकर्त्ता पदार्थ का होना किस युक्ति से सिद्ध हो सकेगा। फिर यह भी प्रगट है कि जो सभों का आदिकर्त्ता है सोही सब से परे है तो उस से परे क्योंकर कोई हो सकता है। और यह भी

निश्चित है कि वह जो सभों का आदिकर्त्ता है वह गुणरहित नहीं हो सकता क्योंकि जो कर्त्ता है उस में कर्तृत्व ज्ञान इच्छा और शक्ति आदिक गुण आवश्यक हैं। और इन गुणों में क्या दोष है और उन के होने से परमात्मा में किस प्रकार से अपूर्णता आ सकती है। पर यदि तुम हठ करके कहो कि हां इन गुणों के होने से अवश्य अपूर्णता सिद्ध होती है तो फिर नास्तिक हो जाने के सिवाय दूसरी गति नहीं है। क्योंकि हम ने कहा कि जो सब का आदिकर्त्ता है वही सभों से परे है और उस में ज्ञान इच्छा शक्ति आदिक गुण मान्ना अवश्य है। और यदि इन गुणों का होना दोष है तो इस से अधिक निर्दोष वस्तु कहीं नहीं मिलने की। पर सच पूछो तो वेदान्तियों के ऐसी भूल में पड़ने का कारण वही यहां के पण्डितों की वुद्धि का साधारण दोष है जिस की चर्चा हम बार २ कर चुके कि वे अपनी ही अल्प वुद्धि के समान सब बातों को ठहराने चाहते हैं। वे देखते हैं कि मनुष्यों के ज्ञान इच्छादिक गुणों में अनेक दोष हैं इस लिये वे समझने लगे कि यदि हम इन गुणों को परमात्मा में मानें तो उस में भी दोष ठहरेगा। परन्तु वे इस बात को नहीं मान सकते कि परमात्मा का स्वरूप हम लोगों से अत्यन्त विलक्षण और उस के ज्ञान

इच्छादिक गुण भी हमारे ज्ञान इच्छादिकों से अत्यन्त विलक्षण हो सकते हैं और उन के कारण से वह दूषणीय नहीं परन्तु अत्यन्त स्तुत्य और सब उत्तमों से उत्तम ठहरता है। हे भाइयो तुम इस बात को सोचो कि वह जो सब से परे है उस को गुणसहित मान्ना भी अवश्य है और उत्तम मान्ना भी अवश्य है। सो जब ये बातें अवश्य हैं तो यह भी सिद्ध होता है कि उस के गुण ऐसे ही हैं कि जो उत्तमता का विरोध नहीं कर सकते। इस लिये यह भी मान्ना आवश्यक है कि उस के ज्ञान इच्छादिक गुण हमारे ज्ञान इच्छादिकों के सदृश नहीं हैं पर उन से अत्यन्त विलक्षण हैं। और यदि परमात्मा के उन अगाध गम्भीर गुणों का तत्त्व हमारी क्षुद्र बुद्धि में न आवे तो क्या आश्चर्य है। पर यह बात जैसी हो तैसी हो तथापि इतना तो निश्चित है कि जिस निर्गुण ब्रह्म को तुम ठहराते हो उस का होना ही सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से तो नहीं सिद्ध है। पर यदि अनुमान से कहो तो यह बात तब होगी जब उस से और दूसरी किसी वस्तु से संबंध हो। क्योंकि तब उस दूसरी वस्तु से जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमित है उस ब्रह्म की भी अनुमिति कर सकेंगे। पर वेदान्तियों के ब्रह्म का तो किसी वस्तु से न कर्त्ता

और कार्य का न और किसी प्रकार का संबंध है ॥

यदि कोई अपने मन में यह समझता हो कि वेदान्ती ब्रह्म को ज़गत का आधार कहते हैं और उस को जगत का आधार कहने में उन का यह तात्पर्य है कि यह जो नित्य२ बदलता हुआ अनित्य जगत है सो आप से आप न हो सकता न ठहर सकता पर इस का कोई नित्य आधार आवश्यक है और वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। और वह हम से कहे कि जब वेदान्ती इस प्रकार से ब्रह्म को जगत का आधार कहते हैं तब तुम क्यों कहते हो कि उस में और जगत में कुछ संबंध नहीं। तो इस के उत्तर में हम कहेंगे कि आप ने कुछ तो वेदान्त की और कुछ हमारे पवित्र शास्त्र की बातों को मिलाके ऐसी कल्पना किई है। जैसी कल्पना आप ने किई है सो तो अत्यन्त उत्तम गम्भीर और ईश्वर के महिमा के योग्य है। पर इस विषय में वेदान्तियों की जो ठीक२ कल्पना है सो उन की और सब बातों के समान अत्यन्त अयोग्य और असंगत है। वे जो ब्रह्म को जगत का आधार मानते हैं सो केवल इस प्रकार से है जैसे शुक्ति रजत का है। अर्थात् जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठान में मनुष्य को रजत

का भ्रम होता है वैसे ही ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत का भ्रम होता है। सो उन की समझ में ब्रह्म जो जगत का आधार ठहरता है सो कुछ इस प्रकार से नहीं कि वह अपनी इच्छा और अचिन्त्य शक्ति से बुद्धिपूर्वक जगत को उत्पन्न कर्त्ता और उस को थाम्भता है। क्योंकि वेदान्ती अपने ब्रह्म को जगत का बुद्धिपूर्वक कर्त्ता नहीं मानते। इस बात की तो वेदान्तियों के यहां दुंदुभि बज रही है कि कर्तृत्व और इच्छादिक गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं हैं इह लिये इस बात का कोई प्रमाण ले आना आवश्यक नहीं तथापि उन के यहां का एक वाक्य लिखते हैं। संक्षेप शारीरक कर्त्ता इस विषय में वैशेषिकों से बड़ा विवाद करके यह अपना सिद्धान्त कहता है॥

अपि च वैदिकवाङ्मनसातिगानुदितलुप्तचिदेकरसात्प्रभोः।
अभवदानकदुन्दुभिनन्दनादमतिपूर्वमिदं सकलं जगत्॥

इस का अर्थ यह है कि जो वाचा और मन की पहुंच से दूर है और जिस चैतन्य की न कभी उत्पत्ति भई है और न जिस का कभी लोप होता है ऐसा चैतन्य ही जिस का रूप है और जिस का

वर्णन वेद करता है ऐसा जो आनकदुन्दुभिनन्दन प्रभु है उसी से इस सारे जगत की उस के अनजाने ही उत्पत्ति भई है। इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो आनकदुन्दुभिनन्दनात् कहा है इस में तात्पर्य वासुदेव से है। और वासुदेव शब्द से वेदान्ती परब्रह्म को समझते हैं जैसा कि शङ्कराचार्य कठवल्ली के भाष्य में एक जगह कहता है कि। "विष्णोर्व्यापनशीलस्य पर ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य"। पर अब यदि कोई पूछे कि इस वासुदेवाख्य ब्रह्म से किस प्रकार से उस के अनजाने ही जगत की उत्पत्ति भई तो उस का उत्तर यह है कि जैसे शुक्ति से शुक्तिरजत की। न कि जैसी किसी बुद्धि पूर्वकारी कर्त्ता से कार्य की उत्पत्ति होती है। क्योंकि इस बात को न भूलना चाहिये कि वेदान्ती उस प्रकार के कर्तृत्व को शुद्ध ब्रह्म में सर्वथा नहीं मानते। सो हम कहते हैं कि यदि उन का ब्रह्म बुद्धिपूर्वक जगत का कर्त्ता नहीं और न उस प्रकार से उस का आधार है पर केवल शुक्ति के ऐसा अधिष्ठान है जिस को बरबस जगत का अधिष्ठान होने पड़ा है तो ऐसे पदार्थ के सिद्ध करने से सत् चित् आनन्दरूप ब्रह्म की सिद्धि कैसी होगी। क्योंकि किसी को इस प्रकार से जगत का अधिष्ठान

ठहराने के लिये पहिले तो यह सिद्ध करना चाहिये कि यह जगत भ्रमविषय है। पर यदि जगत को भ्रम विषय भी मानें तथपि यह वात क्योंकर निश्चित होगी कि इस दृश्य और जड़ प्रपञ्च का जो ऐसा अधिष्ठान है कि जिस के ऊपर यह जगत भ्रम से देख पड़ता है सो निर्गुण निरञ्जन निराकार निर्विकार सच्चिदानन्दरूप ही है जैसा वेदान्ती ब्रह्म का वर्णन करते हैं ॥

पर अव हमारे पवित्र शास्त्र में जो परमात्मा परमेश्वर को जगत का आधार कहा है सो कुछ ऐसा नहीं जैसी शुक्ति रजत का न ऐसा है जैसा भूतल घट का और न ऐसा है जैसा गुणी गुण का और न ऐसा है जैसे तंतु पट का। पर वह इस लिये आधार कहलाता है कि उस ने अपनी अचिन्त्य इच्छा और शक्ति से सब वस्तुन को उत्पन्न किया अर्थात् वे वस्तें जो पहिले कुछ थीं ही नहीं सो उस की अद्भुत और अप्रतर्क्य इच्छा और शक्ति से हुईं और उसी की इच्छा से ठहरी हैं कि जैसी वे आप से आप हुईं नहीं वैसी आपसे आप ठहरी भी नहीं परन्तु उन का प्रतिक्षण का ठहरना उसी की इच्छा से है। हम यहां केवल रूपक की रीति से वोलते हैं कि उस के इच्छारूप हस्त ने मानों उन की सत्ता को थांभा है कि यदि वह उस

हाथ को निकाल ले तो वे तत्क्षण गिर पड़ेंगी अर्थात् असद्भाव को प्राप्त हो जायेंगी । इस उत्तम और दिव्य अर्थ में हमारा पवित्र शास्त्र ईश्वर को जगत का आधार ठहराता है इसी लिये लिखा है कि

उसी में हम जीते चलते फिरते और विद्यमान हैं ॥

और उसी शास्त्र के और स्थानों में जहां परमेश्वर को जगत का कर्त्ता और संभालनेवाला आदिक कहा है वहां से यह प्रगट होता है कि इस वचन में जो "हम उस में जीते चलते" आदिक लिखा है सो किस अर्थ में है । सो देखो वेदान्त के और हमारे पवित्र शास्त्र के सिद्धान्तों में कितना अन्तर है ॥

और उपनिषदादिकों में जो कहीं २ सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान और जगत्कर्त्ता की चर्चा आती है उस को देखके कोई यह न समझे कि उन वचनों को वेदान्ती अपने शुद्ध ब्रह्म पर लगाते हैं । नहीं २ वे वैसे वचनों को उसी ईश्वर पर लगाते हैं जिस को वे जगत के समान कल्पित और असत्य और व्यावहारिक समझते हैं जैसा हम कह चुके । और इस ईश्वर को भी वेदान्ती अपने ग्रन्थों में कभी २ सगुण ब्रह्म शबल ब्रह्म इत्यादि नामों से पुकारते हैं । इस लिये यदि उन के ग्रन्थों में ब्रह्म ऐसा कहके

उस को जगत्कर्त्ता आदि कहा हो तो उस से भी धोखा न खाना चाहिये। और वेदान्त के सूत्रों में भी प्रथम सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके दूसरे सूत्र में जो उस का यह लक्षण कहा है कि जिस से जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहार होते हैं उस से भी कोई यह न समझे कि वेदान्ती अपने शुद्ध ब्रह्म को सच मुच जगत का कर्त्ता और पालक और संहर्त्ता समझते हैं। क्योंकि वेदान्ती लोग उस सूत्र को ब्रह्म का स्वरूपलक्षण नहीं समझते पर तटस्थलक्षण कहते हैं। हम यहां इस बात का विचार नहीं करने चाहते कि सच मुच सूत्रकार का क्या अभिप्राय था पर इस विषय में सैकड़ों बरसों से उस मत के सब प्रामाणिक ग्रन्थकार जो कुछ बात सिखाते और जैसी कुछ इन दिनों भी सर्वत्र वेदान्तियों में मानी जाती है उस को हम कहते हैं। क्योंकि उसी से हम से अभी काम है जैसा कि हम ने आरम्भही में न्यायशास्त्र के विषय में भी कहा था। सो यह निश्चय करके जान्ना चाहिये कि जहां कहीं वेदान्तसूत्र अथवा वेदान्त के और ग्रन्थों में भी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और जगत्कर्त्ता की चर्चा है सो वह सब ईश्वर पर समझी जाती है शुद्ध ब्रह्म पर नहीं। और वह

ईश्वर तो वेदान्तियों के यहां जगत के समान व्यावहारिक और झूठा कहलाता है॥

यदि कोई पूछे कि क्या वेदान्ती ईश्वर को सर्वथा असत्य ही समझते हैं। वेदान्ती तो मायोपहित ब्रह्म ही को ईश्वर कहते हैं तो भला ऐसे ईश्वर में यद्यपि कदाचित् कोई अंश झूठा भी हो तथापि उस में जो ब्रह्मांश है सो कैसे झूठा ठहरेगा। तो हम कहते हैं कि क्या वे अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही को जीव नहीं कहते फिर उस को झूठा क्यों कहते हैं। तो इस का कारण यह है कि यद्यपि वे अन्तःकरणावच्छिन्न अथवा अन्तःकरणप्रतिबिंबित (क्योंकि इस बात में उन के यहां मत भेद है) ब्रह्म को जीव कहते हैं तथापि वे ब्रह्म में सच मुच अन्तःकरणावच्छिन्नत्व को अथवा अन्तःकरणप्रतिबिंबितत्व को नहीं मानते क्योंकि उन के यहां ब्रह्म और अन्तःकरण का सच्चा संबंध नहीं है पर केवल आरोपित है। इस लिये यद्यपि जीव अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही है तथापि जब कि उस का अन्तःकरणावच्छिन्नत्व सत्य नहीं तो उस का जीवत्व भी सत्य नहीं है। इसी प्रकार से यद्यपि वे मायोपहित ब्रह्म ही को ईश्वर कहते हैं तथापि उन के मत से ब्रह्म के साथ माया का सत्य संबंध नहीं है पर

केवल कल्पित है। इस लिये यद्यपि वे ईश्वर को मायोपहित ब्रह्म ही कहते हैं तथापि उस का मायोपहितत्व कल्पित ठहरा तो उन की समझ में ईश्वर भी कल्पित ठहरा। पर उन की समझ के अनुसार इस कल्पित मायोपहित ईश्वर का जो कुछ झूठा ईश्वरत्व है सो भी उस में के मायांश में है पर ब्रह्मांश में नहीं। जैसे इस कल्पित अन्तःकरणावच्छिन्न जीव में जो कुछ झूठे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म हैं सो उस अन्तःकरणांश में है पर शुद्ध ब्रह्मांश में नहीं है। इसी लिये जब वे ईश्वर को जगत्कर्त्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कहते हैं तो यह समझना चाहिये कि उन के मत से वे सब कर्तृत्वादि गुण शुद्ध ब्रह्मांश में नहीं हैं। कभी कभी वेदान्ती माया को ईश्वरशक्ति भी कहते हैं। तथापि वह उस ईश्वर में अर्थात् उस के सत्य स्वरूप में जो शुद्ध ब्रह्म है इस रीति से नहीं रहती जैसे हम लोगों की समझ में किसी शक्तिमान की शक्ति उस में रहती है। क्योंकि हम तो शक्ति शक्तिमान का सत्य संबंध मानते हैं पर वेदान्तियों के मत से ब्रह्म और माया से सच्चा संबंध नहीं है। और यदि माया का सच्चा संबंध किसी के साथ कहा भी जाय तो वेदान्तियों

के मत के अनुसार उस कल्पित और असत्य ईश्वर ही के साथ कहा जायगा पर कभी शुद्ध ब्रह्म के साथ नहीं। क्योंकि झूठे का संबंध झूठे ही के साथ हो सकता है सच्चे के साथ नहीं। देखो वेदान्तियों के मत की इन सब गूढ़ बातों को समझना चाहिये तब उन के भांति भांति के वचनों को देखने से किसी के मन में नाना प्रकार की शङ्का उत्पन्न न होंगी। जैसे कि वेदान्तसार में अज्ञानोपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर के विषय में ऐसा लिखा है कि

अज्ञानोपहितचैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया उपादानञ्च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतया उपादानञ्च भवति ॥

इस का तात्पर्य यह है कि अज्ञानोपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर जो है सो अपनी अपेक्षा से तो जगत का निमित्त कारण है अर्थात् ऐसा कर्त्ता है जैसे कुम्हार घटका है (क्योंकि इस प्रकार के कर्त्ता को पण्डित लोग निमित्त कारण कहते हैं) और वह अपनी उपाधिकी अपेक्षा से अर्थात् अज्ञान की अपेक्षा से जगत का उपादान कारण है जैसी मृत्तिका घटका। जैसे मकड़ी अपनी अपेक्षा से अपने झाले का निमित्त कारण है पर अपने शरीर की अपेक्षा से उपादान

कारण है। तो इस वचन को देखके कोई कहेगा कि देखो यहां तो साक्षात ईश्वर के विषय में दो बातें कही हैं। उस के शरीर को अर्थात् अज्ञान अथवा माया को जगत का उपादान कारण ठहराया है पर उस को आप जगत का निमित्त कारण अर्थात् कर्त्ता ठहराया है। पर अज्ञानरूपी अपने शरीर से पृथक होके वह आप क्या रहा। क्या शुद्ध ब्रह्म नहीं। तो इस प्रकार से क्या शुद्ध ब्रह्म ही को जगत का कर्त्ता नहीं ठहराया। पर इस के उत्तर में हम कहते हैं कि जिस को वेदान्तियों के सब सिद्धान्तों से अच्छा परिचय होगा वह कभी ऐसी शंका में न पड़ेगा। वरन इस जगह की शंका तो उस मकड़ी के दृष्टान्त ही को अच्छे प्रकार से समझने से दूर होगी। क्योंकि यह समझना चाहिये कि वेदान्तियों के मत से जैसे मनुष्य का जीव सच मुच नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्मरूप है वैसे ही मकड़ी का जीव भी है। इस लिये जैसे मनुष्य के जीव में कर्तृत्वादि गुण केवल आरोपित हैं वैसे ही मकड़ी के जीव में भी आरोपित हैं पर सच मुच उन गुणों से और उस से कुछ संबंध नहीं है। वे तो अन्तःकरण के धर्म्म हैं। तब यहां किस प्रकार से मकड़ी को कर्त्ती कहा है। तो उस का उत्तर यह है कि केवल आरोपित कर्तृत्व

लेके कहा है । पर यदि फिर कोई पूछे कि इस प्रकार से मकड़ी का कर्तृत्व और उपादानत्व दोनों उस के शरीर ही में ठहरे । क्योंकि अन्तःकरण भी तो सूक्ष्म शरीर ही कहलाता है इस लिये उस की भी शरीर ही में गणना करनी चाहिये तब जो यहां मकड़ी में और उस के शरीर में भेद करके एक को उपादान और एक को निमित्त कारण ठहराया है सो किस लिये । तो इस का उत्तर यह है कि यहां लोकव्यवहार के अनुसार ये सब बातें कही हैं । क्योंकि जब वेदान्ती जगत की उत्पत्ति आदिका वर्णन करते हैं तब उस को सच्ची बात समझके नहीं कहते इसी-लिये इस प्रकार के वर्णन को वे अध्यारोप कहते हैं । अर्थात् जो बात सच नहीं है उस का केवल आरोप करके अज्ञानियों की समझ के समान ज़गत की उत्पत्ति आदि का वर्णन उन को समझाने के लिये उन के साम्हने किया जाता है । पर इस में उन का यह तात्पर्य रहता है कि पीछे से उन को सत्य बात का ज्ञान देके उन पहिली बातों को झूठी ठहरावें और इस काम को वे अपवाद कहते हैं । सो यद्यपि सच मुच मकड़ी के जीव में कर्तृत्व नहीं है तथापि सब लोगों में वह कर्त्ता समझा जाता है इस लिये उन्हीं की समझ के समान उस आरोपित

कर्तृत्व को लेके यहां भी उस को कर्त्ता कहा है। पर जो उस का वाह्य और स्थूल शरीर है उस के धर्मों का तो कोई आत्मा पर आरोप नहीं करता (क्योंकि जो चार्वाकादिक अत्यन्त मूढ़ लोग हैं जो इस स्थूल शरीर ही को आत्मा समझते हैं उन की यहां क्या गिनती है उन के समझाने के लिये तो नैयायिकादिक वहुत हैं पर ये नैयायिकादिक जो अपने को वड़े ज्ञानी लगाते तथापि अन्तःकरण और आत्मा में भेद नहीं कर सकते पर ज्ञान इच्छा कर्तृत्वादिक अन्तःकरण के धर्मों को आत्मा में ठहराते हैं उन के ऐसों को समझाके उन के अज्ञान को दूर करने के लिये वेदान्तियों के सव परिश्रम हैं। पर ये लोग तो वाह्य शरीर के धर्मों को आत्मा पर नहीं लगाते) पर सव के सव उस को आत्मा से पृथक ठहराते हैं। इस लिये उन्हीं की समझ के समान यहां भी मकड़ी के शरीर को उस के जीव से भिन्न समझके उस को झाले का उपादान कहा है। सो वेदान्तियों के मत के अनुसार यहां ईश्वर की वात भी वैसी ही समझना चाहिये। नैयायिकादिक सव लोग ईश्वर को अर्थात् उस के आत्मा ही को जगत्कर्त्ता ठहराते हैं। पर उन विचारों को भीतर की इस गुप्त वात का ज्ञान नहीं है कि सच मुच

जगत्कर्त्ता तो उस का आत्मा (अर्थात् शुद्ध ब्रह्मांश जिस पर झूठमूठ ईश्वरत्व का आरोप हुआ है) नहीं है पर वह केवल उस का सूक्ष्म शरीर अर्थात् उस का अन्तःकरण है। (क्योंकि यह जान्ना चाहिये कि वेदान्ती लोग जैसे जीव को तैसे ईश्वर को भी एक अन्तःकरण ठहराते हैं। क्योंकि उस के विना न यह न वह कुछ काम कर सकेगा) सो इस बात में वे नैयायिकादिक स्थूलदृष्टि और लौकिक मनुष्यों की समझ के अनुसार ईश्वर में आरोपित कर्तृत्व मानके उस को कर्त्ता कहते हैं। पर इन नैयायिकादिक स्थूल दृष्टिवाले लोगों में से ऐसा कोई भी नहीं जो ईश्वर को अर्थात् उस के आत्मा को जगत का उपादान-कारण समझता हो वरन उन में से कोई परमाणु को और कोई और जड़ पदार्थही को जगदुपादान ठहराता है। पर वेदान्तियों के यहां तो परमाणु आदिक कुछ नहीं है तो ये किस को जगदुपादान ठहरावें। वरन इन के यहां तो जगतही कोई वस्तु नहीं तब उस के उपादानकारण की कौन आवश्यकता है। पर तौभी लौकिक व्यवहार के समान कुछ ठहराना चाहिये इस लिये वे उस अज्ञान को अर्थात् माया को जिस ने जगत की कल्पना किई है उपा-दानकारण ठहराते हैं। और अब उसी को नैयायिक

अपने परमाणु के और सांख्यवाले अपनी प्रकृति के स्थान में समझ लें और अपनी मूढ़ बुद्धि की तृप्ति कर लें। सो यह निश्चय करके जान्ना चाहिये कि जब वेदान्ती ऐसी २ बातें कहते हैं तो केवल अध्यारोप की राह से अज्ञानियों की समझ के अनुसार कहते हैं। पर उन की समझ में सचमुच न ब्रह्म में जगत्कर्तृत्व है न सर्वज्ञत्व है न सर्वशक्तिमत्त्व है और इस लिये वह सचमुच ईश्वर भी नहीं। पर जैसा हम कह चुके कि वेदान्तियों के मत के अनुसार यह कल्पित और झूठा ईश्वरत्व यदि किसी में सचमुच है तो वह केवल अज्ञान में अर्थात् माया में है। पर उस माया से और शुद्ध ब्रह्म से सचमुच कोई संबंध नहीं है। और यदि उस को ईश्वर शक्ति इत्यादि कहा है तो वह केवल अज्ञानियों के समझाने के लिये कहा है। क्योंकि यदि माया का और शुद्ध ब्रह्म का सच्चा संबंध ठहरेगा तब तो वह सचमुचही जगत्कर्त्ता ईश्वर ठहरेगा तब उस का निष्क्रिय निरिच्छ निर्गुण नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होना कहां रहा॥

और यह भी समझना चाहिये कि उस माया से और ब्रह्म से सच्चा संबंध नहीं इतनाही केवल नहीं पर सचमुच वह माया भी कुछ नहीं है। क्योंकि एक शुद्ध और निर्गुण ब्रह्म को छोड़ दूसरा कोई

पदार्थ न कभी था न है न होगा । पर यदि कोई पूछे कि यह कैसी गड़बड़ है । यदि वेदान्ती मायावच्छिन्न ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं और उस के सर्वकर्तृत्वादि गुणों को ब्रह्मांश में न मानके मायांश में ठहराते हैं तो भला माया को तो कुछ पदार्थ ठहराते होंगे यदि वह भी कुछ नहीं है तो जगत्कर्त्ता कौन ठहरा । तो इस का उत्तर यह है कि सचमुच न कहीं जगत है न कोई उस का कर्त्ता है पर केवल अज्ञान से यह सब माना और कहा जाता है । पर कोई पूछे कि किस के अज्ञान से तो वेदान्ती कहेंगे कि जीव के । पर फिर कोई कहे कि जीव तो ब्रह्म ही है तब उस को अज्ञान कैसे हुआ । तो इस का उत्तर यह है कि अज्ञान भी कुछ नहीं और जीव भी कुछ नहीं* ॥

पर हे प्रश्न करनेवाले तू ऐसे ऐसे प्रश्न करते २ थक्क जायगा तथापि तेरा बोध न होगा इस लिये मैं तुझे एक सीधी राह बताता हूं । इस वेदान्त मत में यदि कोई सयुक्तिक बात के जानने की आशा करेगा तो सर्वथा निराश हो जायगा परन्तु जो सयुक्तिक बात की आशा को छोड़के उस को पढ़ेगा वही उस की बातों को कुछ २ समझ सकेगा ।

* इस बात का प्रमाण आठवें अध्याय में देखो ।

वे केवल एक बात कहने जानते हैं कि एक निर्गुण और शुद्ध ब्रह्म को छोड़ दूसरा कोई पदार्थ न कभी था न है न होगा। चाहे वह सयुक्तिक हो वा न हो॥

पर अब ईश्वर विषयक जो वेदान्तियों का मत है उस में का चमत्कार देखो। यद्यपि वे जीव और ईश्वर दोनों को झूठा ठहराते हैं तथापि जो कुछ थोड़ी सी झूठी सत्ता जीव को है उतनी भी उन के मत से ईश्वर को नहीं। हम जानते हैं कि ऐसा कहना योग्य नहीं। क्योंकि न होने और होने में कुछ ऐसे प्रकार नहीं हैं कि एक थोड़ा सा न होना और एक अधिक न होना हो और एक थोड़ासा होना और एक अधिक होना हो। इस लिये यह कहना अत्यन्त अयोग्य है कि यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों कुछ नहीं हैं तथापि मानो जीव का कुछ नहींपन ईश्वर के कुछ नहींपन से कुछ कम है। पर क्या करें वेदान्तियों की भूल दिखाने के लिये एक असंगत बोली बोलना पड़ता है। सो हम कहते हैं कि वेदान्तियों की रीति से अज्ञान और जीव और उस का बद्ध होना सर्वथा झूठा है अर्थात् कुछ है ही नहीं तथापि किसी न किसी प्रकार से अपनी आंखों को मूंदके जीव को कुछ है करके मान्ना पड़ता है और उस

को अज्ञानी और बद्ध भी मान्ना पड़ता है नहीं तो वेदान्त शास्त्र का सारा पसारा व्यर्थ होगा । सो उन के मत से जीव और उस का अज्ञान यद्यपि कुछ हैं ही नहीं तथापि अपनी आंखों को मूंदके यह कहना चाहिये कि जीव ने अज्ञान से माना है कि मैं जीव हूं और यह जगत है और वह ईश्वर है इत्यादि । सो भला एक रुपये में से अधेला भर सत्ता भी किसी न किसी प्रकार से झूठ मूठ उस में आ गई है । पर ईश्वर में तो वह भी नहीं । क्योंकि वेदान्ती ईश्वर को जिस को वे झूठा समझते हैं जीव के समान अज्ञानी नहीं समझते पर उस को सदा ज्ञानवान ठहराते हैं । इस लिये जैसे जीव अपने को अज्ञान से जीव करके समझता है और इस अपने अज्ञान से अपने लिये किसी न किसी प्रकार से थोड़ी सी झूठी सत्ता बना लेता है वैसा ईश्वर नहीं कर सकता क्योंकि वह अपने को अज्ञान से ईश्वर करके नहीं समझ सकता । इस लिये जैसे यह दृश्य जगत कुछ नहीं है केवल जीव का कल्पना किया हुआ है वैसा ही वेदान्तियों के मत से ईश्वर भी कुछ नहीं है केवल जीव का कल्पित है॥

पर अब यदि कोई हम से पूछे कि क्या सचमुच वेदान्ती ईश्वर को कुछ नहीं समझते और क्या

उपनिषदादिकों में जो बड़ा २ ईश्वर का वर्णन है सो सब व्यर्थ ही है और वेदान्ती अपने ग्रंथों में ईश्वर और जीव का सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि लक्षणों से जो भेद ठहराते और बहुत सा इन बातों पर विचार करते हैं सो सर्वथा बकवाद ही है। तो इस के उत्तर में हम कहते हैं कि वेदान्ती तो अपने मत के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा ही कहते हैं कि जैसे जगत तैसे ईश्वर भी केवल व्यावहारिक अर्थात् अज्ञान कल्पित ही है और सचमुच कुछ नहीं है। और उपनिषदादिकों में जो ईश्वर का बड़ा २ वर्णन है सो सब केवल अज्ञानियों की कल्पना का अनुवाद-मात्र है और अध्यारोप की रीति से किया गया है इत्यादि। यह सब वे कहते हैं और इस में कुछ संदेह नहीं कि उन को अपने मत के सिद्धान्तों के अनुसार ऐसाही कहना चाहिये। तथापि हम जानते हैं कि उन का मन भीतर से इस बात को ग्रहण नहीं करता। अर्थात् वे तो अपने जानने में ऐसा ही मानते हैं तथापि उन के मन के भीतर एक गुप्त निश्चय जो रहता है सो और ही प्रकार का है जिस को वे आप नहीं जानते। उस का वर्णन हम नवें अध्याय में करेंगे॥

३ तीसरा अध्याय ।

जिस में वेदान्ती जो अन्तःकरण के लिये एक प्रकाशक की आवश्यकता समझके इस प्रकार से अपने ब्रह्म की सिद्धि करने चाहते हैं उस बात की परीक्षा है ॥

अब वेदान्ती ब्रह्म के सिद्ध करने के लिये और एक युक्ति ले आते हैं। वे कहते हैं कि वृत्तिरूप जो ज्ञान होता है जैसा कि यह घट है यह पट है इत्यादि इस में कोई प्रकाशक चाहिये। क्योंकि अन्तःकरण तो जड़ है सो उस की वृत्ति घट पट आदि विषयों का ग्रहण कैसे कर सकेगी। इस लिये जिस के सान्निध्य से यह जड़ अन्तःकरण प्रकाशित होता है ऐसी कोई वस्तु ठहराना चाहिये और वही हमारा ज्ञानस्वरूप आत्मा और ब्रह्म है। तो हम पूछते हैं कि इस प्रकार से जो तुम अपने आत्मा और ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप और प्रकाशक मानते हो इस में क्या तुम्हारा यह तात्पर्य है कि वह आत्मा ही आप अन्तःकरण के द्वारा से घट पटादि विषयों का ग्रहण करता है अर्थात् यह जानता है कि यह घट है और यह पट है इत्यादि। और जब तुम अन्तःकरण को घट पटादि विषयों का ग्राहक कहते हो तो क्या तुम अपने इस कहने को केवल गौणार्थक समझते हो। क्योंकि हम भी गौण बोली में कहते हैं कि हमारा नेत्र रूप का

ग्रहण करता है और कर्ण शब्द का ग्रहण करता है इत्यादि पर सच मुच हम नेत्रादिकों को रूपादिकों के ग्राहक नहीं समझते वे तो केवल उन विषयों के ग्रहण करने के द्वारमात्र हैं। सो क्या तुम्हारा भी यही अभिप्राय है। यदि ऐसा ही हो तो इस विषय में तुम्हारे और हमारे कहने में कुछ बड़ा अन्तर न ठहरा। पर तुम यह जानो कि इस प्रकार की युक्ति से तुम ने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव निर्विकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को नहीं सिद्ध किया केवल दीनहीन मलिन अज्ञानी दुःखी जीव ही को सिद्ध किया। पर हम जानते हैं कि तुम अपने शुद्ध आत्मा में इस प्रकार का विषय ग्राहकत्व नहीं मानते अर्थात् तुम यह नहीं कहते कि वह शुद्ध आत्मा इस प्रकार से विषयों का ग्रहण करता है कि यह घट है यह पट है इत्यादि। क्योंकि तुम देखते हो कि यदि हम इस प्रकार के ज्ञान को उस में मानें तो इच्छा और कर्तृत्व और सुख दुःखादिकों को क्यों न मानें। और यदि उन को भी मानें तो वह सचमुच पाप पुण्य का कर्ता और स्वर्ग नरक और त्रिविध ताप का भोक्ता भी होगा। तब हम उस को ऐसा मन्त्र सुनाके कैसे मुक्त कर सकेंगे कि तू तो न कर्ता है न भोक्ता है न पापी है न पुण्यवान है पर नित्य शुद्ध

बुद्ध मुक्त स्वभाव सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है। इस बात को निश्चय कर और अपने स्वरूप को प्राप्त कर जो सचमुच कभी तुझ से अलग नहीं हुआ है पर केवल तू ने उस को विसरा दिया है। सो हम कहते हैं कि तुम तो इस प्रकार से विषयों का ग्रहण करना उस शुद्ध आत्मा में नहीं मानते। तब इस प्रकार से उन का ग्रहण करनेवाला कौन है। क्योंकि विषयों का ग्रहण तो होता है तो उस का कोई ग्रहण करनेवाला चाहिये। सो अन्त को इस प्रकार का विषयों का ग्रहण करना अन्तःकरण ही में ठहराओगे। तो हम कहते हैं कि यह घट है यह पट है इत्यादि रीति से जो कोई विषयों का ग्रहण करनेवाला है चाहो उस का नाम अन्तःकरण रखो चाहो और कुछ रखो उस के लिये किसी और एक प्रकाशक की क्या आवश्यकता है। ऐसे प्रकाशक का तो किसी को अनुभव नहीं है। क्योंकि विषयों का ग्रहण जो प्रत्यक्ष और अनुमित्यादिक होता है उस में इन्द्रियादिकों की और व्याप्तिज्ञानादिकों की तो आवश्यकता है पर इन प्रसिद्ध उपकारकों को छोड़ और किसी उपकारक की क्या आवश्यकता है। ऐसे को हम न जानते न पहिचानते हैं। पर तुम कहते हो कि उस की तो बड़ी आवश्यकता है क्योंकि विषयोंका ग्रहण करनेवाला अन्तःकरण है

पर वह जड़ है तो उस में यह शक्ति कहां से आई। इसी लिये हम कहते हैं कि उस में वह शक्ति उस चैतन्यरूप आत्मा के सान्निध्य से आई। वह जड़ अन्तःकरण उस ज्ञान स्वरूप आत्मा के सान्निध्य से चेतनसा हो जाता है जैसे लोहचुम्बक के सान्निध्य से लोहा। और ऐसा प्रभाव जो हमारे उस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में है कि अपने सान्निध्य से जड़ को चेतन के समान कर देता है इसी लिये हम उस को ज्ञानस्वरूप और प्रकाशक कहते हैं क्योंकि ऐसे प्रभाव का उस में होना यही उस की ज्ञानस्वरूपता और प्रकाशकता है जैसा कि हमारे छोटे भाई सांख्यवाले भी अपने पुरुष के विषय में कहते हैं जो तुम और नैयायिकादिकों के ऐसे प्राकृत लोगों से कहीं बढ़के सूक्ष्मदर्शी हैं। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि भाई जब हम तुम्हारी इस निर्मूल कल्पना की परम्परा को सत्य मानें तभी हम को तुम्हारे उस प्रकाशक की आवश्यकता पड़ेगी। क्योंकि जब पहिले हम मानें कि यह विषयों का ग्रहण करनेवाला अन्तःकरण है तब उस को जड़ कहें और तब यह भी मानें कि यद्यपि वह जड़ है तथापि किसी दूसरे के सान्निध्य से चेतन के समान हो जाता है और यद्यपि केवल चेतन के समान होता है और न कि सचमुच

चेतन तथापि ऐसा काम कर सकता है जो चेतन के सिवाय किसी से नहीं हो सकता । ये सब कैसे मनभावना के तरङ्ग हैं । ये कैसी निर्मूल और बाधित बातों की कल्पना है । हम तुम से पूछते हैं कि यह जो विषयों का ग्रहण करनेवाला है इस को तुम क्यों जड़ कहते हो चेतन ही क्यों नहीं कहते । तो तुम कहते हो कि वाह अन्तःकरण कहीं चेतन हो सकता है चेतन तो केवल आत्मा ही है । तो हम फिर पूछते हैं कि उस को किस लिये अन्तःकरण कहते हो । यदि अन्तःकरण ऐसा नाम ही देने से तुम को विरुद्धता मालूम देने लगती है तो उस को अन्तःकरण न कहो पर आत्मा ही कहो । तब अन्त को तुम्हारी वही बात आवेगी कि यदि उस को हम आत्मा मानें तो हमारा आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव न ठहरेगा । सो इस प्रकार से तुम एक मनःकल्पित इष्ट बात को सिद्ध करने के लिये सारे अनुभव और युक्ति की सीमा का उल्लंघन करके मनमानी बातें स्थापित करने लगते हो । पर इन बातों का विचार हमने सांख्य मत की परीक्षा में किया है इस लिये यहां उस का बिस्तार करना आवश्यक नहीं । तथापि यहां संक्षेप में तुम को समझाने के लिये यह पूछते हैं कि तुम किस को आत्मा कहते

हो। ये जो हम तुम हैं इन से किसी भिन्न पदार्थ को आत्मा कहते हो अथवा हम को और अपने ही को आत्मा ठहराते हो। यदि कहो कि भिन्न पदार्थ को कैसे आत्मा ठहरावें क्योंकि आत्मा ही तो हमारा तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है इसी लिये वह आत्मा कहलाता है। तो हम कहते हैं कि यदि तुम हम को और अपने को आत्मा कहते हो और फिर कहते हो कि जो विषयों का ग्रहण करनेवाला है सो जड़ है तो तुम ने आत्मा ही को जड़ ठहराया। क्योंकि हम तुम तो विषय का ग्रहण करते हैं। क्योंकि हम ने सांख्य के विचार में दिखाया है कि हमारा तुम्हारा जो यह अनुभव है कि हम विषयों को जानते हैं और चाहते हैं इत्यादि सो भ्रम नहीं हो सकता। इस लिये यदि विषयों का ग्रहण करनेवाला जड़ है तो हम तुम जड़ ठहरे यदि हम तुम जड़ ठहरे तो वह आत्मा भी जड़ है क्योंकि तुम ने कहा कि हम तुम ही आत्मा हैं। पर इस विषय में तुम्हारी भूल का कारण यह है कि तुम ने एक मनःकल्पित इष्ट बात को सिद्ध करने के लिये चेतन का नाम जड़ रखा और इस प्रकार से जब तुम्हारी दृष्टि में चेतन जड़ हो गया तब तुम एक दूसरे चेतन को ढूंढ़ने निकले कि वह इस जड़ को प्रकाशित

करे । क्योंकि जान्ना चाहना इत्यादि धर्मों को छोड़ चेतन का चेतनत्व और क्या है । लोगों ने जो चेतन यह नाम रखा है सो ऐसे ही गुणों से युक्त वस्तु का बोध कराने के लिये रखा है । तो भाई यदि कोई पदार्थ विषय का ग्रहण करता है अर्थात् विषय को जानता है तो इस से अधिक उस में कैसी चेतनता चाहोगे । फिर चाहो तुम उस को अन्तः-करण कहो चाहो उस का नाम जड़ रखो चाहो उस को महा अंधकार कहो इस में क्या हानि है । क्या नामों के बदलने से वस्तु बदलती है । और तुम्हारा भी मन यही कहता है कि विषयों का ग्रहण करना यही चेतनता है । क्योंकि देखो इस में तुम और सांख्यवाले भी कैसी अद्भुत भूल करते हो । तुम कहते हो कि अन्तःकरण जड़ है इस लिये वह आप से विषयों का ग्रहण कैसे कर सकेगा । तो भला इस से प्रगट है कि तुम भी समझते हो कि विषयों का ग्रहण करना चेतन का काम है । तो यदि तुम समझते हो कि विषयों का ग्रहण करना चेतन का काम है और यह भी जानते हो कि अन्तःकरण विषयों का ग्रहण करता है तब उस को जड़ क्यों कहते हो । क्या इसी लिये कि उस का नाम तुम ने अन्तःकरण रखा । देखो यह क्या अंधेर की बात है ।

तुम आप जानते हो कि विषय का ग्रहण करना चेतन का काम है और यह भी जानते हो कि अन्तः-करण विषयों का ग्रहण करता है तथापि बरबस उस को जड़ ठहराके फिर उस को चेतन बनाने के लिये एक प्रकाशक को ठहराते हो । पर वह प्रकाशक भी क्या उस को चेतन बनाता है । नहीं पर केवल चेतन के सदृश । पहिले तो वह चेतन नहीं रहा इस लिये सब काम अड़ा रहा पर अब केवल चेतन के सदृश होने से वह काम चल निकला । पर तुम यह सोचो कि एक बार नहीं वरन हजार बार भी कोई पदार्थ चेतन के सदृश हो तथापि यदि वह सचमुच चेतन नहीं तो चेतन भिन्न ही है और जो चेतन भिन्न है सोई जड़ है और जो जड़ है सो चेतन का कर्म कैसे कर सकेगा । पर हम कहां लों ऐसी बातों में व्यर्थ अपना समय खोवें इस लिये सारांश तुम को कहते हैं कि जो यह विषयों का ग्रहण करनेवाली अर्थात् जान्नेवाली और चाहनेवाली और करनेवाली बस्तु है सो हम ही हैं । और यद्यपि तुम हमारा नाम अन्तःकरण अथवा जड़ अथवा शून्य भी रखो तो इस से हम न डरेंगे और किसी दूसरे प्रकाशक को न ढूढ़ेंगे । क्योंकि हम जानते हैं कि ये सब शक्ति हम को जगत्कर्त्ता सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने दिई हैं । सो जब कि उस

ने हम को जानने की योग्यता दिई है और हम अनुभव से जानते हैं कि इन्द्रियादिक और व्याप्तिज्ञानादिकों को उस ने हमारे उपकारक ठहराये हैं तो झूठ मूठ एक नये पदार्थ को किस लिये मानें ॥

यदि कोई वेदान्तियों के मत को न जानके कहे कि जैसे तुम परमेश्वर को जानने की शक्ति का दाता ठहराते हो वैसे ही वेदान्ती ब्रह्म को ठहराते हैं तो हम कहेंगे कि क्या अब लों तुम ने वेदान्त के तात्पर्य को नहीं जाना । वेदान्ती तो ब्रह्म को हम से अभिन्न और हमारा ही आत्मा ठहराते हैं तो क्या हम आपही अपने को शक्ति देंगे । फिर उन का ब्रह्म अकर्त्ता और निर्गुण है तो वह हम को शक्ति भी कैसे देगा । फिर वेदान्ती यह भी नहीं मानेंगे कि हम ही सचमुच विषय को ग्रहण करते हैं । सो उन की बात इस में हर प्रकार की गड़बड़ से मिली हुई है तो उस को हमारी बात से मिलाने के लिये परिश्रम न करो ॥

अब यदि वेदान्ती हम से पूछें कि तुम कहते हो कि यह जो विषयों का ग्रहण करनेवाली वस्तु है सो हमारा आत्मा ही है तो निद्रा में उस की विषयग्रहण करने की शक्ति कहां जाती है और फिर कहां से आती है । तो हम भी उन से पूछेंगे

कि तुम्हारा वह प्रकाशक तो सदा एक सा रहता है तो निद्रा के समय वह विषय ग्रहण करनेवाला अन्तःकरण कहां जाता है और फिर कैसे आता है। सो बस तुम को भी इन बातों का कुछ कारण ठहराना होगा वैसा ही हम भी कुछ कारण ठहरावेंगे। फिर जो बात हम ने न्यायशास्त्र के विचार करते समय कही थी उस का स्मरण करो कि आत्मा का स्वरूप अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। इस लिये उस के और उस के गुणों के संपूर्ण तत्त्व को जानना अथवा उस का वर्णन करना मनुष्यों को अशक्य है। सो यद्यपि हम इन बातों के गहिराओं में तले तक न पहुंच सकें और सब बातों के भेद को न बता सकें तथापि क्या जो बातें प्रत्यक्षादिकों से सर्वथा निश्चित हैं उन को भी उलटी पुलटी और अत्यन्त वेठिकाने की बना डालें और सिर को पैर और पैर को सिर कहने लगें॥

---

४ चौथा अध्याय।

जिस में यह दिखाया है कि वेदान्तियों का ब्रह्म सर्वथा गुणरहित है इस लिये वह शून्यरूप ठहरता है॥

दूसरे और तीसरे अध्याय के विचारने से यह स्पष्ट होगा कि वेदान्तियों के ब्रह्म में कोई गुण नहीं ठहर

सकता । अर्थात् उस में ज्ञान इच्छा कर्तृत्वादिक कोई गुण नहीं रहते । और वेदान्ती भी निर्गुण शब्द का वही अर्थ समझते हैं जो लोकप्रसिद्ध है अर्थात् सर्व-गुणरहित । और इस को छोड़ कोई दूसरा अर्थ वेदान्तियों को मालूम नहीं है । पर जिस प्रकार के ज्ञान को वे ब्रह्म में नहीं मानते सो वह ज्ञान है जिस को हम सब ज्ञान कहते हैं अर्थात् विषयों का जान्ना जैसे कि यह घट है यह पट है इत्यादि । पर इस प्रकार के ज्ञान को यद्यपि वे ब्रह्म में नहीं मानते तथापि वे अपने ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप कहते हैं । सो इस विषय में उन की यह समझ है कि यद्यपि ब्रह्म में कोई गुण नहीं है तथापि वह शून्यरूप नहीं है । क्योंकि उस का तो ऐसा उत्तम रूप है कि उस के आगे और सभों का रूप तुच्छ है । वह तो सत् चित् आनन्दरूप है । अब हम कहते हैं कि हम लोग विना कुछ गुण के किसी पदार्थ के होने की कल्पना नहीं कर सकते पर हमारी समझ में जिस में कुछ भी गुण नहीं है वह कुछ पदार्थही नहीं है । सो किसी पदार्थ का होना स्थापित करने के लिये उस में किसी प्रकार के गुणों को ठहराना आवश्यक है । पर अब जैसा कि सब मनुष्य गुण और गुणी में भेद मानते हैं वैसा कोई न मानके यह कहे कि

गुण और गुणी हमारी समझ में एकही हैं तो ऐसे विषय में हम किसी से झगड़ा नहीं करने चाहते। क्योंकि हम को यह विषय बहुत कठिन मालूम पड़ता है। और इस समय इस में विवाद करने की हम को कुछ आवश्यकता नहीं है। पर इतना तो अवश्य चाहिये कि किसी प्रकार के गुणों को हम मानें तभी किसी पदार्थ के होने को सिद्ध कर सकेंगे फिर चाहो उन गुणों को गुणिरूप कहो चाहो उस से भिन्न कहो। सो हम कहते हैं कि वेदान्ती जो अपने ब्रह्म को सत् चित् आनन्दरूप कहते हैं इस में उस की वह चित्स्वरूपता अर्थात् ज्ञानस्वरूपता यदि ज्ञानस्वरूपता कहलाने के योग्य हो और वह आनन्दरूपता यदि आनन्दरूपता कहलाने के योग्य हो तो हम न कहेंगे कि उन का ब्रह्म केवल शून्यरूप है। तथापि इस बात को न भूलना चाहिये कि वे उस को ऐसा मानने से भी उस की सिद्धि नहीं कर सकते क्योंकि वह जगत का न निमित्तकारण न उपादानकारण है इस लिये उस से और किसी से संबंध नहीं हो सकता तब हम किस प्रकार से उस की अनुमिति कर सकेंगे जैसा कि हम पूर्वाध्याय में दिखा चुके। पर उस से अधिक यहां हम यह कहते हैं कि वे अपने मन से जिस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना करते

हैं उस प्रकार का ब्रह्म केवल शून्यरूप ठहरता है। क्योंकि वे उस को ज्ञानस्वरूप तो कहते हैं पर वह किसी को जानता नहीं। क्योंकि वेदान्त मत के अनुसार जो किसी को जानना है अर्थात् जो सविषयक ज्ञान है सो वृत्यात्मक है और ब्रह्मस्वरूपभूत जो ज्ञान है सो सविषयक नहीं है। पर विना विषय के जान्ना नहीं हो सकता। क्योंकि जो किसी को जान्ना नहीं सो कैसा जान्ना है। तब हम अपनी खटिया को और भीत को और छत को भी जान्ना क्यों न कहें। देखो हे वेदान्तियो तुम नामों के बदलने से कैसे वस्तु के स्वरूप को भूल जाते हो। जो सचमुच चेतन है अर्थात् विषयों का जाननेवाला है उस को तो तुम ने अन्तःकरण और जड़ ऐसे ऐसे नामों के देने से जड़ समझ लिया। और जो सचमुच जड़ है अर्थात् किसी को नहीं जानता उस को तुम ज्ञानस्वरूप चिद्घन और स्वयंप्रकाश ऐसे नाम देके चेतन मानने लगे। यदि लोग कंकर को हीरा का नाम देके हीरा बना सकते तो क्या कुछ न कर सकते॥

यदि कोई कहे कि वेदान्तियों के मत से ब्रह्म के सिवाय दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं तब वह किसी को कहां से जानेगा तो हम कहते हैं कि भला यदि दूसरा पदार्थ कोई नहीं है तौभी वह आप तो है।

पर क्या वह अपने को भी जानता है कि मैं ब्रह्म हूं। वेदान्ती तो यह भी नहीं मान सकते। क्योंकि यदि वह आप भी अपने को जानेगा कि मैं ब्रह्म हूं तो आप अपना विषय होगा इस लिये ऐसा ज्ञान सविषयक ठहरा अर्थात् आत्मरूप विषय का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ठहरा तो वह भी वृत्त्यात्मक ही है। क्योंकि उन के यहां जितने विषयग्राही ज्ञान हैं अर्थात् वे ज्ञान जो हमारी समझ में ज्ञान कहलाने के योग्य हैं सो सब वृत्त्यात्मकही हैं इस लिये ऐसा ज्ञान ब्रह्म स्वरूप नहीं हो सकता॥

इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि पण्डित लोग जब अपने मत के सिद्धान्तों को कहने लगते हैं तो सब बातों को चाहो वे जीवविषयक हों चाहो ईश्वरविषयक हों चाहो ब्रह्मविषयक हों रत्ती रत्ती करके बड़ी स्पष्टता के साथ बतलाते हैं। सो वेदान्तियों के यहां जितना सविषयक अनुभवात्मक ज्ञान है अर्थात् जो किसी को जान्ना है (और ऐसाही ज्ञान तो ज्ञान कहलाने के योग्य है।) उस का वे छः प्रकार का भेद ठहराते हैं। और उस के छः प्रकार के कारण भी हैं जिन को प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि कहते हैं। इन्हीं छः प्रकारके ज्ञानों में ईश्वर और जीव दोनों

के अनुभवात्मक ज्ञान अन्तर्गत हैं। और इन का उन के यहां बड़े विस्तार के साथ वर्णन रहता है। और उन के बीच में ईश्वर के ज्ञान और जीव के ज्ञान में जो भेद है उस को भी वे दिखाते हैं। और इन छः प्रकार के ज्ञानों के बाहर कोई सविषयक अनुभवात्मक ज्ञान अर्थात् ऐसा ज्ञान जो किसी को जान्ना है उन के यहां प्रसिद्ध नहीं है। और वेदान्तियों के मत के समान इन छः प्रकार के ज्ञानों में से एक प्रकार का ज्ञान भी विना अन्तःकरण की वृत्ति के नहीं होता वरन वे सब ज्ञान वृत्यात्मकही हैं॥

यदि कोई वेदान्त के तात्पर्य को न समझके हम से कहे कि तुम स्वविषयक ज्ञान को भी सविषयक कहते हो पर वेदान्ति कदाचित् अपनी बोली में ऐसा न कहते होंगे। और जब वे किसी ज्ञान को सविषयक कहते हैं तो उन का तात्पर्य यही होगा कि बाह्य विषयविषयक ज्ञान। इस लिये यद्यपि वे उन ज्ञानों को जिन को वे सविषयक समझते हैं अर्थात् बाह्य विषयविषयक ज्ञानों को अन्तःकरणद्वारा समझते हों तथापि स्वविषयक ज्ञान को विना अन्तःकरण के ठहराते होंगे। क्योंकि आप अपने को जानने के लिये किसी द्वार की अपेक्षा नहीं है। और इस

प्रकार से वे ब्रह्म में भी बिना अन्तःकरण की वृत्ति के स्वविषयक ज्ञान को मानते होंगे। तो हम कहते हैं कि ये सब शङ्का वेदान्त मत के न जानने से और अपने मन से उस मत की बातों को किसी एक प्रकार की ठहरा लेने से हो सकती हैं। क्योंकि वेदान्ती कहते हैं कि जो हम को तुम को स्वविषयक अनुभव होता है वह भी वृत्त्यात्मक ज्ञानही है। देखो यदि कहीं निर्वृत्तिक ज्ञान की जगह थी तो यहीं थी। फिर जिन लोगों को ऐसी ऐसी शङ्का होती हैं उन को हमारी उस बात को न भूलना चाहिये जो हम ने पूर्वाध्याय में दिखाई थी कि जैसे हम नेत्रादि इन्द्रियों को ज्ञान के द्वार समझते हैं वैसे वेदान्ती अन्तःकरण को ज्ञान का द्वार नहीं समझते। उन का अन्तःकरण नैयायिकों के मन के समान एक आन्तर इन्द्रिय नहीं है। पर उन के कहने के अनुसार वही सचमुच जाननेवाला ठहरता है। यद्यपि उन्होंने इन बातों में ऐसा शब्दों का जाल फैलाया है कि वे आप इस में फंसके अपनी ही समझ के विरुद्ध बचनों को बोलते हैं इस लिये उन के मुंह से ऐसे शब्द निकलते हैं कि मानों आत्मा ही वृत्ति के द्वारा विषयों को जानता है। देखो वेदान्तपरिभाषा में इस विषय में जो एक बात का विचार किया है

उस के देखने से जो बात हम ने कही सो स्पष्ट होगी । वेदान्त परिभाषा में इस बात का विचार किया है कि जैसे हम को घट पटादिकों का प्रत्यक्षानुभव वृत्ति के द्वारा होता है क्या वैसेही हमारा वृत्तिविषयक जो अनुभव है सो भी वृत्तिही के द्वारा होता है अथवा हम साक्षात् अपने स्वरूप से उस का अनुभव करते हैं । और इस बात में वेदान्तियों का सिद्धान्त यही दिखाया है कि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से किसी का अनुभव नहीं कर सकता इस लिये वृत्ति का जो अनुभव है सो भी वृत्तिद्वारकही है । पर इस के लिये किसी दूसरी वृत्ति को ठहराना आवश्यक नहीं पर वृत्ति आपही अपना ग्रहण कर सकती है । देखो जिस अनुभव की यहां चर्चा है सो प्रत्यक्षात्मक अनुभव है तो हम पूछते हैं कि यदि वेदान्ती अन्तःकरण और उस की वृत्ति को नेत्रादिकों के समान कोई आन्तर इन्द्रिय समझते तो क्या उस के प्रत्यक्षानुभव की चर्चा करते । क्या हम अपने चक्षु का चाक्षुष अनुभव कर सकते हैं । आपही अपने विषय में प्रत्यक्षानुभव का देना यह तो केवल ज्ञान इच्छादिक आत्मा के गुणोंही का धर्म है । किस को इस प्रकार से किसी आन्तर इन्द्रिय के प्रत्यक्षानुभव का अनुभव है । और यह जानना चाहिये कि

यहां वेदान्ती जिस अनुभव का विचार कर रहे हैं सो कोई योगियों का अनुभव नहीं है पर यह वही है जो सभों को होता है। नैयायिक और वैशेषिक जो मन को आन्तर इन्द्रिय ठहराते हैं क्या कभी मन के प्रत्यक्षानुभव की वात कहते हैं। सो जानो कि जिस वृत्ति के प्रत्यक्षानुभव की चर्चा वेदान्ती करते हैं वह कोई ज्ञान का द्वार नहीं है पर वही पदार्थ है जिस को हम सब ज्ञान कहते हैं। क्योंकि हम को अपने ज्ञानादि गुणों का अलवत्ता प्रत्यक्षानुभव होता है। फिर वे कहते हैं कि इस वृत्ति का जो आत्मा को अनुभव होता है सो शुद्ध साक्षी को नहीं होता अर्थात् आत्मा अपने निज स्वरूप से उस को भी नहीं जानता (जो कोई वेदान्तपरिभाषा को अच्छी रीति से समझेगा उस को ये बातें मालूम होंगी) पर वह अनुभव भी वृत्तिद्वारकही है। तो देखो ज्ञान का ज्ञान भी शुद्ध आत्मा को नहीं है पर वह भी अन्तःकरणवृत्ति रूपही है तो क्या इससे यह प्रगट नहीं होता कि वे ज्ञान को अर्थात् उस को जो ज्ञान कहलाने के योग्य है और अपने शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न बस्तु ठहराते हैं। और इस बात को याद रखना चाहिये कि जो उन का शुद्ध आत्मा है सोही उन का ब्रह्म है। यदि कोई पूछे कि तब वे

आत्मा को ज्ञाता इत्यादि क्यों कहते हैं। तो हम कहते हैं कि ऐसा वे अलवत्ता कहते हैं और वेदान्तपरिभाषा में देखोगे कि चैतन्य ही को अर्थात् आत्माही को प्रमा ठहराया है। पर ऐसी ऐसी बातों से धोखा न खाना चाहिये। यदि तुम वेदान्तपरिभाषा को ध्यान देके पढ़ोगे और अच्छे प्रकार से समझोगे तो देखोगे कि वेदान्तपरिभाषा का कर्त्ता शुद्ध चैतन्य में ज्ञातृत्व और प्रमात्व को नहीं ठहराता पर ज्ञातृत्व को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में और प्रमात्व को वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य में ठहराता है। पर उस में भी जो अच्छे प्रकार से मन लगाके देखोगे तो यह पाओगे कि उस अन्तःकरणाद्यावच्छिन्न चैतन्य में भी जो ज्ञातृत्वादिक कहलाते हैं सो शुद्ध चैतन्यांश में नहीं हैं पर उस के विशेषण में अर्थात् अन्तःकरण और उस की वृत्ति में हैं। यह बात वेदान्तपरिभाषाकार ने आग में तपाये हुए लोहे के गोले के दृष्टान्त से प्रगट किई है। कि जैसे लोग कहते हैं कि वह लोहे का गोला जलाता है पर सचमुच जलाने का धर्म उस में नहीं है पर उस पर की आग में है। वैसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जान्नेवाला कहलाता है पर सचमुच जान्ने का गुण उस में नहीं है पर अन्तःकरण में है। इस विषय पर बहुत

बिस्तार करने से ग्रन्थ बढ़ जायेगा इसलिये हम इस बात का सिद्धान्त बताते हैं कि ऐसे ऐसे विषयों में वेदान्तियों की बोली बुद्धि को अत्यन्त व्याकुल करनेवाली है पर हमारी समझ में वेदान्तियों के मत के अनुसार शुद्ध आत्मा में अर्थात् ब्रह्म में न दूसरे का न अपना जान्ना है। अर्थात् उस में वह जान्ना नहीं है जो जान्ना कहलाने के योग्य है। इस प्रकार से वेदान्ती जो जान्ने को शुद्ध आत्मा में मान्ने से डरते हैं इस के बहुत कारण हैं। पर हमारी समझ में सब में मुख्य कारण वही है जो हम ने पूर्वाध्याय में दिखाया है। कि वे समझते हैं कि यदि हम आत्मा में जान्ना मानें तो इच्छा कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादिकों को भी मान्ना पड़ेगा तब उस की नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावता नष्ट हो जायेगी। इस लिये वे उन धर्मों को अन्तःकरण के गले में बांधके आत्मा को बचा रखने चाहते हैं।

फिर इस के सिवाय यदि वे अपने शुद्ध आत्मा में अर्थात् ब्रह्म में किसी दूसरी वस्तु का अथवा अपना किसी प्रकार का ज्ञान मानें तो और भी कितने बखेड़े उन को मालूम होते हैं। एक तो यह कि यदि वे उस आत्मा में अपना ज्ञान भी मानें तो वह निर्गुण निर्धर्म्मक और निरस्तसमस्तभेद न ठहरेगा। क्योंकि

जब वह आप अपने को जानेगा तो उस में विषय-विषयीभावरूप धर्म्म आवेंगे । दूसरे यह कि जब वह अपना जान्नेवाला होगा तो उस के जान्ने में और उस में गुणगुणिभाव आवेगा । पर ये सब बातें उन को बड़े दुःसह दोष सी मालूम देती हैं इसीलिये वे किसी प्रकार के सविषयक ज्ञान को ब्रह्म में नहीं मान्ने चाहते ॥

सो हमारी समझ में वेदान्तियों का ब्रह्म के ज्ञान के विषय में यही मत है जो हम ने कहा । इस लिये वेदान्तियों का वह ब्रह्मस्वरूपभूत ज्ञान ज्ञान कहलाने के योग्य नहीं है । और जब वह ज्ञान सच मुच ज्ञान नहीं है तो उस का आनन्द भी आनन्द कहलाने के योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान के विना आनन्द नहीं हो सकता । इस से प्रगट है कि यद्यपि वेदान्ती अपने ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं तथापि वह शून्यरूप ही ठहरता है ॥

---

५ पांचवां अध्याय ।

जिस में पूर्वाध्याय में जो हम ने दिखाया है कि वेदान्तियों के मत से उन के ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान भी नहीं है उसी बात पर और कुछ विचार है ॥

हमारी समझ में पूर्वाध्याय में ब्रह्म के ज्ञान के

विषय में जो हम ने कहा सोही वेदान्त मत का ठीक सिद्धान्त है। और जो कोई सच्चे वेदान्ती अपने शास्त्र की सब गूढ़ बातों को अच्छे प्रकार से जानते हैं (क्योंकि यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि केवल न्याय व्याकरण में पण्डित होने से वेदान्त की गूढ़ बातों को कदापि मनुष्य नहीं समझ सकता। पर जो सच्चे वेदान्ती हैं) उन से यदि पूछो कि क्या तुम ब्रह्म में ऐसा स्वविषयक ज्ञान मानते हो कि मैं ब्रह्म हूं तो वे अपने कानों पर हाथ रखके कहेंगे कि ऐसी बात न हमने न हमारे बाप दादों ने कभी सुनी थी। पर कोई ऐसे हैं जो समझते हैं कि वेदान्तियों का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म को सचमुच अपना ज्ञान नहीं है पर वे जो अपने ब्रह्मस्वरूप ज्ञान को इस आकार का ज्ञान नहीं मानते कि मैं ब्रह्म हूं सो केवल इस लिये है कि इस आकार के ज्ञान की ब्रह्म को आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं ब्रह्म हूं ऐसा जान्ना तो केवल अपने को औरों से भिन्न ठहराने के लिये है पर ब्रह्म से कोई भिन्न पदार्थ तो कहीं नहीं है तब उस प्रकार का ज्ञान उस में काहे को होगा। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि ऐसी बात कभी कोई शास्त्रवेत्ता वेदान्ती न कहेगा। क्योंकि पहिले तो हम कहते हैं कि हमारी

समझ में यह बात निश्चित है कि वेदान्ती स्वविषयक ज्ञान को ब्रह्म में नहीं मानते । और दूसरे यह कि ब्रह्म में मैं ब्रह्म हूं इस आकार के ज्ञान में और स्वविषयक ज्ञान में कुछ भेद नहीं है और न कोई शास्त्रवेत्ता वेदान्ती भी उन में भेद मानेगा । इस लिये यदि वह स्वविषयक ज्ञान को ब्रह्म में माने तो मैं ब्रह्म हूं इस आकार के ज्ञान को क्यों न मानेगा। हम नहीं समझते कि कोई शास्त्रवेत्ता वेदान्ती मैं अमुक हूं इस प्रकार के अहंप्रत्यय को इतरभेदसिद्ध्यर्थक समझता होगा । क्योंकि मैं अमुक हूं इस आकार के प्रत्यय में इतरभेद विषय नहीं है । इस प्रत्यय में तो केवल तीन बातें भासती हैं। पहिले अपना स्वरूप और दूसरे उस स्वरूप में आत्मत्व और तीसरे उस आत्मत्व-विशिष्ट स्वरूप का अथवा (चाहो तो ऐसा कहो कि) उस स्वरूप से अभिन्न जो आप है उस का होना । पर इन तीन बातों से अधिक कोई और विषय मैं अमुक हूं इस प्रत्यय में नहीं भासता । यद्यपि इस प्रकार के प्रत्यय से आप से आप इतरभेद भी सिद्ध होता है तथापि यह प्रत्यय निज करके इतरभेद-सिद्ध्यर्थक नहीं है । जब मैं अपने सेवक को पुकारता हूं तो उस में आपसे आप यह बात प्रगट रहती है कि मैं केवल अपने सेवक ही को बुलाने चाहता

हूं और दूसरे किसी को नहीं। तथापि मेरे पुकारने में अवश्य करके यह अर्थ नहीं रहता कि मैं किसी दूसरे का निवारण करूं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो किसी अरण्य स्थान में जहां दूसरा कोई नहीं है मेरा अपने सेवक को पुकारना व्यर्थ होता। सो मैं अमुक हूं इस आकार का ज्ञान केवल स्वविषयक ज्ञान ही है और स्वविषयक ज्ञान से कोई अधिक विषय उस आकार के ज्ञान में नहीं भासता। क्योंकि वे तीन बातें जो मैं अमुक हूं इस आकार के ज्ञान में भासती हैं वेही स्वविषयक ज्ञान के विषय हैं। अर्थात् अपना स्वरूप और उस में आत्मत्व और उस आत्मत्वविशिष्ट स्वरूप का होना। जिस ज्ञान में ये तीन बातें नहीं भासतीं वह स्वविषयक ज्ञान ही नहीं हो सकता अर्थात् वह अपने को जान्ना नहीं है। और उन्हीं तीन विषयों के भासने को मैं अमुक हूं यह शब्द प्रगट करते हैं। पर हम जानते हैं कि ऐसा तो कोई हमारे अभिप्राय को न समझेगा कि जहां जहां स्वविषयक ज्ञान है तहां तहां ऐसे शब्द मुंह से निकालना आवश्यक है। क्योंकि हमारा केवल यह कहना है कि जो जो स्वविषयक ज्ञान है अर्थात् जो जो अपने को जान्ना है उस का आकार ऐसा ही है जैसा इन शब्दों में प्रगट होता है चाहो वह ज्ञान

अनादि हो चाहो सादि हो चाहो सदास्थायी हो चाहो क्षणस्थायी हो चाहो ईश्वर का हो चाहो जीव का हो। इस लिये हम यह कहते हैं कि यदि कोई वेदान्ती भी ऐसा कहे कि ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान तो है पर इस आकार का ज्ञान नहीं है कि मैं ब्रह्म हूं तो हम कहेंगे कि वह तो नाम ही भर का ज्ञान है पर सच मुच ज्ञान नहीं है॥

ब्रह्म में मैं ब्रह्म हूं इस आकार के ज्ञान के मान्ने में हम ने अलवत्ता एक पण्डित के मुंह से यह शङ्का सुनी थी। उस ने कहा कि मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार के ज्ञान में तीन भिन्न विषयों का एक करना है। अर्थात् एक अपना स्वरूप और दूसरा आत्मत्व और तीसरा अस्तित्व इन तीनों को एक करना है। पर ब्रह्म में तो भेदभाव नहीं है तो वह क्योंकर ऐसा कर सकेगा। परन्तु यह जान्ना चाहिये कि इस प्रकार की अनुपपत्ति लाने में उस पण्डित का तात्पर्य यह था कि ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान ही का निषेध करे और न यह कि उस में स्वविषयक ज्ञान को माने पर केवल मैं ब्रह्म हूं इस आकार के ज्ञान का निषेध करे। सो यह ध्यान में रखना चाहिये कि ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान ही के मान्ने में जैसी और भी कई एक अनुपपत्ति पण्डितों को मालूम पड़ती हैं जिन में से कितनों

की चर्चा हम ने पूर्वाध्याय में किई है उन्हीं के समान यह भी एक अनुपपत्ति उस पण्डित को मालूम पड़ी। पर अब उस पण्डित के समान जो कोई यह समझेगा कि मैं ब्रह्म हूं इस ज्ञान में तीन भिन्न विषयों का एक करना है और इस लिये ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान के मान्ने में बड़ी अनुपपत्ति समझेगा उस की इस निर्मूल शङ्का को दूर करने के लिये हम यह कहेंगे कि भाई इस विषय में ऐसी शङ्का करने की कहीं जगह नहीं है। क्योंकि मैं ब्रह्म हूं इस आकार के ज्ञान में न तीन का एक करना है न एक का तीन करना है पर जो पदार्थ जैसे हैं तैसों का भासना है। पर यदि वह हम से पूछे कि वे पदार्थ कैसे हैं क्या परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं यदि भिन्न कहोगे तो हम उन को ब्रह्म में मानते ही नहीं क्योंकि वह तो एक रस है और यदि एक ही हैं तो तीन शब्दों से किस लिये उन का निरूपण करते हो। तो हम उस से कहेंगे कि तुम्हारे इस शब्दजाल में हम नहीं फंसनेके। हम उस से पूछेंगे कि क्या ब्रह्म ब्रह्म नहीं है अर्थात् क्या उस का वह स्वरूप नहीं है जो तुम कहते हो अर्थात् सच्चिदानन्द। फिर क्या यह स्वरूप उस का आप नहीं है। फिर क्या वह इस स्वरूप से युक्त होके विद्यमान नहीं है। इन बातों को वह नहीं न

कह सकेगा । तब हम उससे पूछेंगे कि यदि तुमने आपही उस में तीन पदार्थ माने अर्थात एक ब्रह्मत्व दूसरा स्वत्व और तीसरा सत्व तो हम उन का तीन शब्दों से निरूपण न करें तो क्या करें । और यदि ब्रह्मत्व स्वत्व और सत्व को धर्मवाचक शब्दों से पुकारना तुम को बुरा लगता है तो हम केवल स्वरूपवाचक शब्दोंही से उस अर्थ को प्रगट करेंगे कि वह ब्रह्म है तथापि तीन शब्द तो कहना आवश्यक है । तो देखो जिन बातों को तुम मानते हो उन्हीं को हम कहते हैं इसमें यदि तुम को उसके एकरसत्वके सिद्धान्तमें विरोध मालूम पड़ता है तो तुम्हीं जानो इससे हमको क्या । पर हमारी समझमें तो इस बात में बड़ी कठिनता नहीं है। तुम्हारा यह चमत्कार है कि जो बात कुछ बड़ी कठिन नहीं है उस को तुम ने बड़ी कठिन ठहराया पर ब्रह्म को सर्वथा ज्ञानरहित ठहराना यह तुम को उस से बहुत सहज मालूम पड़ा ॥

फिर यदि कोई कहे कि वेदान्ती जब कहते हैं कि ब्रह्म में मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान नहीं है तो उन का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म में स्वविषयक ज्ञान नहीं है पर वे जो ऐसी बोली बोलते हैं सो केवल इस बात के प्रगट करने के लिये है कि ब्रह्म का

ज्ञान हम लोगों के ज्ञान के समान नहीं है पर उस से अत्यन्त विलक्षण और अत्यन्त अतर्क्य और अचिन्त्य है। तो हम कहेंगे कि इस प्रकार से वेदान्तियों के तात्पर्य को ठहराना केवल अपने मन की कल्पना है इस के लिये कोई प्रमाण नहीं है। फिर यदि उन लोगों को ऐसे विलक्षण और अतर्क्य ज्ञान का ब्रह्म में मानना अनुचित न जान पड़ता तो क्या यह संभावनीय नहीं है कि उन को वैसे विलक्षण और अतर्क्य इच्छा और कर्तृत्व को भी ब्रह्म में मान्ना अनुचित न जान पड़ता। पर देखो ज्ञान के विषय में तो इतना भी है कि वे झूठ मूठ अपने ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप ऐसा नाम देके लोगों को भुलाते हैं पर इच्छा और कर्तृत्व के विषय में तो वह बात भी नहीं देख पड़ती॥

हम भी जगत्पिता सर्वशक्तिमान परमेश्वर में जो ज्ञान इच्छा कर्तृत्वादि गुण मानते हैं उन को जीवों के ज्ञान इच्छादिकों के सदृश नहीं मानते परन्तु उन से अत्यन्त विलक्षण कहते हैं। हां वे ऐसे विलक्षण हैं कि उन के वैलक्षण्य को न हमारी दुर्बल बाणी न हमारा क्षुद्र मन नाप सकता है। उन गुणों का तत्व अतर्क्य और अचिन्त्य है। जब हम उस तत्व को बिचारने लगते और यह सोचने

लगते हैं कि परमेश्वर किस प्रकार से उन गुणों से इस विश्वरूपी कार्य को करता है तो हमारी मति घवड़ा जाती और थकके उस विषय के अन्वेषण से फिर आती पर कभी उस के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकती है। यह सब कुछ हम मान लेते और उस अति महान का स्मरण करके और अपनी क्षुद्रतमता को और अकिञ्चित्तमता को भी देखके अपने मस्तक को पृथिवी की धूल लों नम्र करते और हृदय के आदर से और आंखों के आंसुओं से उस पूज्यतम का पूजन करते हैं। पर यद्यपि उस के ज्ञान इच्छादि गुण हमारी बुद्धि की पहुंच से अत्यन्त दूर हैं तथापि उन के विषय में इतना तो हम को कहना आवश्यक है कि वे हैं। क्योंकि यह विश्व और उस में की सब वस्तें तो आपही पुकारती और कहती हैं कि हम को किसी अनादि और परात्पर पुरुष ने जान वूझके वनाया है जैसा कि हम इस ग्रन्थ के प्रथम भागके तीसरे अध्याय में दिखा चुके हैं। और जब लों हम अपने मनुष्यत्व को उस की सारी विचार शक्ति समेत नष्ट करके अपने को पशु न वनावें तव लों इस वात को मान्ने से अलग नहीं रह सकते। तो यदि किसी परात्पर ने इस विश्व को जान वूझके वनाया है तो यदि उस में ज्ञान

इच्छा कर्तृत्व को न मानें ते क्या करें। यद्यपि उन के तत्व के विषय में हम लोग इतने अज्ञान हैं कि जितनी पत्थर की मूर्त्ति अपने गढ़नेवाले के ज्ञान और मनसूबे और कारीगरी से अज्ञान है। फिर यदि उस में जगद्विषयक ज्ञान है अर्थात् यदि वह जगत के जानता है ते उस के उस ज्ञान के आकार के इस प्रकार से प्रगट करने में क्या दोष है कि वह जानता है कि यह जगत है। फिर यदि उस में स्वविषयक ज्ञान है ते ऐसा कहने में क्या बाध है कि वह जानता है कि "मैं परमेश्वर हूं"॥

क्या नैयायिक भी ईश्वर के ज्ञान इच्छा कर्तृत्वादिकों के जीवों के ज्ञानादिकों से अत्यन्त विलक्षण और अनादि अविकार्य नहीं कहते तथापि क्या वे यह कहने में शङ्कित होते हैं कि ईश्वर में स्वविषयक ज्ञान है और उस में इच्छादिक हैं। यदि इन बातोंमें नैयायिकादिकों की और वेदान्तियों की समझ समान होती तो वे किस लिये उन से बड़े बड़े विवाद करते॥

फिर यदि कोई कहे कि वेदान्तियों के भी मन में वैसी ही बातें हैं जैसी नैयायिकादिक कहते हैं। पर उन की और औरों की समझ में थोड़ा थोड़ा अन्तर है इस लिये उन के मुंह से इस विषय में और प्रकार

की बोली निकलती है। तो हम कहेंगे कि यह भी केवल मन की कल्पना है। और हम यह भी कहते हैं कि यदि इस विषय में उन की समझ में थोड़ा थोड़ा ही अन्तर हो तथापि उस को विषतुल्य समझना चाहिये और इस विषय में न उस बात को कि जिस के विषय में हम ने कल्पना किई है वरन उस बात को जिसे वे कहते हैं पकड़के उन को उस में का विरोध दिखाना चाहिये। जिस्तें यदि उन के मन में कदाचित और प्रकार की बात हो तो उस का भी अन्तर निकल जाये। परमार्थसंबंधी बातों में इस थोड़े ही थोड़े अन्तर ने तो जगत में अनेक मिथ्या और कुत्सित मत फैलाये हैं। क्योंकि ऐसे मनुष्य तो कम होंगे जिन को परमेश्वर और उस के गुणों के विषय में कुछ भी ज्ञान न हो पर उस ज्ञान में जो अन्तर हो गया है वही उन को अनेक कुमार्गों में भटकाता है। इसी प्रकार से वेदान्तियों की परमात्मविषयक बातों की समझ में यदि थोड़ी ही थोड़ी न्यूनता हो तथापि देखो उस न्यूनता ने उन की सब समझ का कैसे सत्यानाश कर दिया है। क्योंकि उन्हों ने उस परमात्मा के और जीव के स्वरूप को ऐसा कुछ ठहरा लिया है कि जीव को परमात्मा से अभिन्न और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव

मान्ने में उन को कुछ कठिनता नहीं मालूम पड़ती है। पर हमारी समझ में तो इन बातों के विषय में वेदान्तियों की समझ में थोड़ासा अन्तर ही नहीं है बरन उन की समझ सर्वथा उलटी पुलटी हो गई है। एक बात तो हम मानते हैं कि इन बातों में से कोई कोई बात के विषय में एक गुप्त बोध जो उन के मन में है सो कुछ और प्रकार का है। और उस का वर्णन हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे। वह बोध मानों उन के स्वाभाविक विवेक का टुकड़ा है। पर इस गुप्त बोध को हम उन की समझ नहीं कह सकते क्योंकि उस को वे आप नहीं पहिचानते और जिस समझ को वे जान बूझके पालते और जिस के लिये बड़े बड़े झगड़े करते उस से तो बरन वह विरुद्ध है॥

फिर वेदान्तियों के विषय में कोई ऐसा कहते हैं कि वेदान्ती ब्रह्म में केवल अन्तःकरण द्वारा ज्ञान नहीं मानते क्योंकि अन्तःकरण की आवश्यकता तो जीव को है पर सर्वज्ञ ब्रह्म को नहीं पर यह वेदान्तियों का तात्पर्य नहीं कि ब्रह्म में सर्वथा ज्ञान नहीं है। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि वेदान्तियों के मत के अनुसार ब्रह्म ही को तो अन्तःकरण की आवश्यकता है और दूसरे किस को होगी। क्योंकि जीव तो

ब्रह्म ही है पर यदि उस को अन्तःकरण न होता तो वह कैसे जानता । फिर उन के मत से जैसे जीव तैसे ईश्वर भी ब्रह्मही है पर उसको भी जान्ने के लिये एक अन्तःकरण चाहिये । पर जीव का अन्तःकरण छोटा है इस लिये उस अन्तःकरण से ब्रह्म थोड़ा जानता है और ईश्वर का अन्तःकरण बड़ा है बरन सर्वव्यापक है (क्योंकि वह सब अन्तःकरणों की समष्टि है) इस लिये उस अन्तःकरण से ब्रह्म सब कुछ जानता है । पर विना अन्तःकरण के न वह अल्पज्ञ हो सकता न सर्वज्ञ हो सकता है । पर फिर जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों कल्पित हैं इस लिये ब्रह्म सचमुच न जीवही है न ईश्वरही है इस लिये न वह सचमुच अल्पज्ञही है न सर्वज्ञही है । यदि कोई कहे कि ये बातें तो कुछ समझ में नहीं आतीं तो हम कहते हैं कि जिस को माके दूधके साथ वेदान्त पिलाया गया है उस को छोड़ किसी दूसरे की समझ में न आवेंगी ॥

फिर कोई ऐसा समझते हैं कि वेदान्ती केवल ज्ञान में और ब्रह्म में गुणगुणिभाव का निषेध करते हैं और कहते हैं कि वह ज्ञानही ब्रह्म का स्वरूप है पर इस में उन का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म को स्वविषयक ज्ञान नहीं है । इस के उत्तर में हम कहते

हैं कि यह तो वेदान्त मत की बातों का अपने मन से एक अर्थ लगाना है पर यह हम को उस मत का तात्पर्य नहीं मालूम पड़ता है। हमारी समझ में वेदान्ती उस ज्ञान को जो सचमुच ज्ञान कहलाने के योग्य है अर्थात स्वविषयक ज्ञान को धर्मरूप और जिस में जान्ना है अर्थात जो जान्नेवाला है उस को धर्मीही ठहराते हैं। और यदि कोई दूसरे सूक्ष्म विचारी लोगों ने गुणगुणि के एक होने और ज्ञान के निराश्रय रहने की बात अपने सूक्ष्म विचार से निकाली भी हो तौभी हमारी अल्प समझ में वेदान्तियों की बुद्धि ऐसे सूक्ष्म विषयों तक पहुंचने के योग्य नहीं है। जैसे और सब लोग वैसे वेदान्ती भी यही समझते हैं कि जान्नेवाले में और जान्ने में धर्मधर्मिभावरूप भेद मान्ने विना न चल सकेगा। इसी लिये जब उन्हों ने देखा कि हम अपने आत्मा में धर्मधर्मिभाव नहीं मान सकते तो उस ज्ञान को जिस को कि हम सब लोग ज्ञान कहते हैं अर्थात विषयग्राही ज्ञान को आत्मा में न माना पर अन्तः-करणवृत्तिरूप ठहराया। और इस वृत्तिरूप ज्ञान का किसी न किसी प्रकार से एक झूठा संबंध आत्मा के साथ मानके आत्मा को ज्ञाता ठहराया। तो देखो जब उन्हों ने उस ज्ञान का संबंध किसी न किसी

प्रकार से आत्मा में लगाया तब उस ज्ञान को आत्मा का धर्मही ठहराया और आत्मा को जान-नेवाला कहके माना उस का धर्मीही बनाया। पर फिर वे इस संबंध को भी कल्पित कहते हैं। और उस ज्ञातृत्व को ढकेलते २ अन्त को अन्तःकरणही के गले में बांधते हैं और आत्मा को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ठहराते हैं। यह तो उन के मत की एक बड़ी गड़बड़ है जिस में वे अपने मत की अनेक विरुद्धता के कारण से आ गिरते हैं। पर हम उन की इस गड़बड़ की बात को छोड़के केवल उन की स्वाभाविक समझ की झुकाहट को दिखाते हैं कि उन के भी मुख से यही बात निकलती है कि वह ज्ञान जो सचमुच ज्ञान कहलाने के योग्य है सो धर्मरूप और जो ज्ञाता है सो उस से भिन्न और धर्मीरूप है। सो हमारी समझ में यह बात प्रगट है कि यदि वेदान्ती ब्रह्म के ज्ञान को वैसा ज्ञान समझते जो ज्ञान कहलाने के योग्य है तो वे उस को अवश्य करके ब्रह्म का धर्म और ब्रह्म को उस का धर्मी अर्थात् जाननेवाला करके और न कि ज्ञान करके मानते। पर सच बात तो यह है कि जिस ज्ञान को वे ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान करके मानते हैं वह सचमुच ज्ञान नहीं है॥

इन सब बातों को सुनके यदि कोई कहे कि क्या वेदान्ती अपने ब्रह्म में जिस को वे परात्पर वस्तु ठहराते हैं ज्ञान इच्छा कर्तृत्वादिकों को सर्वथा नहीं मानते । और भला यदि इच्छा कर्तृत्वादिकों को न मानते हों तथापि क्या ज्ञान और आनन्द को भी नहीं मानते । यदि उन की समझ में ज्ञान और आनन्द से और ब्रह्म से कुछ सम्बन्ध-ही नहीं है तो उन्होंने ज्ञान और चैतन्य और प्रकाश और आनन्द ऐसे २ नामों को जो ब्रह्म के लिये चुना है इस का क्या कारण हुआ होगा । तो हम कहते हैं कि वेदान्ती लोग अपने जानने में जिन बातों को मानते और जिन के लिये बड़ा बड़ा विवाद करते और बड़े २ ग्रन्थ लिखते हैं वे बातें तो वेही हैं जिन का हमने वर्णन किया । पर ब्रह्म के ज्ञानादिकों के विषय में जो उन के मन के भीतर छिपा हुआ निश्चय रहता है जिस को वे आप नहीं जानते सो हमारी समझ में कुछ और ही है और अब हम उस का वर्णन करने चाहते हैं । पर उस के पहिले ब्रह्म की इच्छा और कर्तृत्व-के विषय में हम कहते हैं कि यह बात तो वेदान्तियों के मन में सर्वथा नहीं है न छिपी न प्रगट कि ब्रह्म में किसी प्रकार की इच्छा अथवा कर्तृत्व है ।

क्योंकि उन गुणों को वे अपने ईश्वर की तरफ़ लगाके और फिर उस ईश्वर को भी जगत के समान अज्ञान कल्पित और मिथ्या ठहराके इस विषय में निश्चिन्त हो बैठे हैं। और यद्यपि उन के हृदय का दुर्बल और जर्जरीभूत स्वाभाविक विवेक बार २ उन को यह कहके सताता है कि यदि तुम उस अपने अनादि और स्वयम्भू ब्रह्म को इस अनित्य जगत् का कारण न कहोगे तो कैसा बनेगा तथापि वे उस विवेक को यह कहके धमकाते और चुप करते हैं कि जगत तो कुछ है ही नहीं और हम भी ब्रह्म को इस मिथ्या जगत का कारण इस प्रकार से कहते ही हैं जैसे शुक्ति रजत का कारण है। अब रही ज्ञान की बात पर वह ऐसी झटपट विदा नहीं होती और उन का मन नहीं मानता कि वह ब्रह्म सर्वथा पाषाणतुल्य है। और क्या पहिले पहिल यह बिचार उन के मन में न आया होगा कि यद्यपि हम इस जगत को मिथ्या कहें तथापि इस का देख पड़ना कहां से आया है। तो ऐसा अवश्य कोई ज्ञानमय एक सोता है जहां से ये सब चित्र विचित्र देखने की धारा निकली हैं। सो यदि और सब झूठा है तौभी एक ज्ञान तो सच्चा है। इस से दो पदार्थ सिद्ध हुए एक सत् और एक चित्। फिर उन के

मन ने बिचारा होगा कि यदि यह सारा दुःखमय संसार झूठा है तो इस से पृथक् होके वह ज्ञान तो अवश्य आनन्दरूप होगा। और जब दूसरा कोई नहीं पर वह आपही आप है तो आप अपने को अत्यन्त प्रिय है (जैसा कि उपनिषद् में लिखा है) सो इस से भी उस की आनन्दरूपता सिद्ध हुई। बस इस से यह सिद्ध हुआ कि और सब असत्य है तथापि एक सत् चित् आनन्दरूप आत्मा सत्य है। पर यह जो विचार हम ने कहा सो उन के मन के भीतर का छिपा हुआ बिचार कहा जिस ने उन के मन में उत्पन्न होके बरबस उन के मुंह से ज्ञान के सत्य होने की बात निकाली। पर वे उस बिचार को भूल गये हैं और यद्यपि ज्ञान का नाम भर उन्हों ने रख छोड़ा है तथापि उसके रूपको यहां लों बदल डाला कि उस में कुछ भी ज्ञानपन नहीं रहा। क्योंकि उन के उस छिपे विचार ने जिस ज्ञान को सत्य और सब का मूल ठहराया था वह ज्ञान तो सचमुच उसी अर्थ में था जिस अर्थ में हम सब भी ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। क्योंकि उन के उस विचार ने जगत को मिथ्या ठहराके उस के देख पड़नेके कारण का पता लगाते २ ज्ञान के पास आके विश्रान्ति किई थी और उस को सत्य ठहराया था। और

ऐसा ज्ञान तो वही होगा जिस को हम सब ज्ञान कहते हैं। पर अब वेदान्तियों को वैसे ज्ञान के मान्ने से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अद्वय ब्रह्म के सिद्धान्त में कई विरोध देख पड़ने लगे इस लिये उन्हों ने वैसे ज्ञान को न मानके भी जगत के दिखाई देने की उपपत्ति औरही प्रकारसे कर लिई है। वे कहते हैं कि जगततो अज्ञान से दृष्टि पड़ता है और जिस अज्ञान से वह दृष्टि पड़ता है वह अज्ञान भी मिथ्या है। इस लिये जगत के देखने से और ब्रह्म से कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस बात का प्रतिपादन सातवें और विशेष करके आठवें अध्याय में देख लेना सो जिस प्रकार के ज्ञान को हम ज्ञान कहते हैं उस प्रकार के ज्ञान को ब्रह्मस्वरूप मान्ने की उन को कौन आवश्यकता है। सो देखो जिस मतको वेदान्ती जान बूझके मानते और सिखाते और जिस के लिये बड़ी बड़ी युक्ति लाते और बड़े बड़े ग्रन्थ लिखते और नैयायिकादिकों से झगड़ा करते उस में और उस विचार में जिस ने प्रथम उन के मन में उत्पन्न होके अपने अनुसार से कई शब्द बरबस उन के मुख से निकलवाए कितना बड़ा अन्तर है। उन के भीतर के छिपे विवेक ने तो यह उन को सिखाया कि यद्यपि और कुछ न मानो

तथापि ज्ञान को तो सत्य मानो और यह कहके उन के मुख से ज्ञान और चित और प्रकाश ऐसे ऐसे नाम निकलवाये। पर वे उस विवेक के शब्द को भूल गये और उन नामों का औरही प्रकार का अर्थ ठहराया। पर यद्यपि अपने जान्ने में उन्हों ने ऐसा किया और ब्रह्म को जड़ बनाया तथापि हम समझते हैं कि उन का मन भीतर से नहीं मानता कि ब्रह्म पाषाण तुल्य है॥

पर इस विषय में यह आश्चर्य्य देखो कि ज्ञान-रहित ब्रह्म को ज्ञान २ कहते २ उन के मन में यह बात ऐसी गड़ गई है कि अब वे समझते हैं कि सचमुच ज्ञान कहलाने के लायक हमारा ब्रह्म ही है। और उस अन्तःकरण की वृत्ति के विषय में जो हमारी समझ में सचमुच ज्ञान कहलाने के योग्य है वे यह कहते हैं कि उस को केवल आरोपित अर्थ में हम ज्ञान करके पुकारते हैं। देखो कैसी उन्होंने सब बातों को उलटी कर डाला है। पर निज करके इस बात की चर्चा हम ने इस लिये यहां किई है कि यदि कोई वेदान्तियों की पेंच पांच की बातों को न जानके वेदान्तपरिभाषा में यह लिखा हुआ देखे कि अन्तःकरण की वृत्ति को केवल आरोपित अर्थ में ज्ञान कहते हैं और अपने मन में यह शंका

करे कि क्या इस से स्पष्ट नहीं होता कि वेदान्ती अन्तःकरण की वृत्ति को सचमुच ज्ञान नहीं समझते तो उस की शंका दूर हो जाये ॥

अब जैसी उन की दशा ब्रह्म के ज्ञानस्वरूपता के विषय में है वैसी ही जीव के ज्ञान इच्छा कर्तृत्व सुख दुःख वन्ध मोक्ष के विषय में है । वे तो कहते हैं कि ये सब धर्म्म जीव में अर्थात् उस के सच्चे स्वरूप में नहीं हैं पर केवल अन्तःकरण में हैं । और उन को अपने मत के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा ही कहना चाहिये । पर क्या तुम समझते हो कि उन का मन भीतर से इस वात को मानता है । नहीं २ उन का मन भीतर से निश्चय करता है कि जीव तो सचमुच पापी दुःखी दुर्दशाग्रस्त और वद्ध है और वरवस उन के मुख से वैसे शव्द निकलवाता है । पर उन के मन की यह बात उन से छिपी है और उन शव्दों का अर्थ यदि उनसे पूछने जाओ तो वे तुम को हजार तरह से इधर उधर घुमावेंगे और अन्त को उन का अर्थ ऐसा कुछ ठहरावेंगे कि जिस से यह सिद्ध हो कि जीव अर्थात् उस का सच्चा स्वरूप सदा शुद्ध वुद्ध मुक्त और निर्लेप है और वह न कभी वद्ध था न है और न उस को मुक्त होना है । यही भाइयो वेदान्तमत है । इस लिये

जैसे हम ने सांख्यमत विचारके अन्त में कहा वैसा यहां भी कहते हैं कि यद्यपि वेदान्ती अपने जान्ने में एक प्रकार की वात को मानते और उन के मन का छिपा हुआ विवेक उन के मुंह से वरवस और प्रकार के शव्द निकलवाता है तथापि इस से धोखा मत खाओ ॥

इस विषय में हम और एक वात प्रसङ्ग से कहके इस अध्याय को समाप्त करने चाहते हैं और वह वात यह है । वेदान्त की अथवा इस देश के और किसी दर्शनकारों की कोई कोई वात में और यूरोप के कितने सूक्ष्मविचारी पुरुषों की वातों में कहीं ऊपर ऊपर से मेल की आकृति को देखके हमारी अल्प समझ में झट पट यह निश्चय करना योग्य नहीं कि जिस सूक्ष्म विचार की राह से यूरोप के सूक्ष्मविचारी लोगों ने किसी वात को ठहराया है उसी राह से और उसी वात को यहां के दर्शनकारों ने भी ठहराया है । क्योंकि यद्यपि उन यूरोपीय विद्वान लोगों ने भी कितनी वातों में भूल किई हो तथापि हमारी समझ में वे सचमुच सूक्ष्मविचारी थे और वुद्धिरूप गम्भीर समुद्र में से कोई २ अद्भुत रत्न निकालने की आशा से सचमुच उस में डूवते थे । और प्रायः जान वूझके अपने ही हठ की वात को

सिद्ध करने के लिये अनुभव की सीमा का उल्लङ्घन करके हज़ार तरह के कुतर्कों में से जैसे मिलें तैसों को खींच खांचके और मार पीटके अपनी इष्ट बात के साम्हने बलिदान नहीं चढ़ाते थे। पर इस देश के पण्डितों की बात उन से सर्वथा उलटी है। हम ने आगे कहा कि नैयायिक और वैशेषिकों के मत में तो कई एक सयुक्तिक और अनुभवानुकूल बातें पाई जायेंगी यद्यपि उन में भी यहां के पण्डितों की बुद्धि का साधारण दोष बार २ प्रगट होता है। पर उन को छोड़ और दर्शनों में और निज करके वेदान्त में जो कोई उन के सच्चे तात्पर्य को बूझेगा सो सिवाय असङ्गति के कुछ नहीं पावेगा। ये लोग अनुभव और तर्क के समान बात को नहीं सिद्ध करने चाहते पर अपनी बात के समान अनुभव और तर्कों को गढ़ने चाहते हैं। और यद्यपि उन लोगों की बुद्धि स्वभाव से बड़ी सूक्ष्म और तीक्ष्ण है कि यदि उन को कोई अच्छा मार्गप्रदर्शक हो और यदि वे सच्ची बात को समझने चाहें तो सब कुछ समझ सकें। पर फिर भी उन की बुद्धि में यह बड़ी दुर्बलता है कि बहुधा उन को आप से आप पहिले पहल जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ठीक २ नहीं सूझ पड़ता और हेत्वाभासों से वे जलदी मोहित होते

हैं। और तिस में भी यदि उन को किसी बात का बड़ा पक्षपात हो तो फिर उस के सिद्ध करने के लिये ऐसी कोई भी असङ्गति बात नहीं है जिस को वे न पी सकें। जो कोई उन के ग्रंथों को पढ़ेगा वह देखेगा कि कैसी कैसी लड़काई की बातें उस में भरी हैं। और ऐसे २ असत्तर्कों को लड़काई से सीखने से और उन का अभ्यास करने से उन की बुद्धि में उन तर्कों की वासना ऐसी प्रबल हो रही है कि अब बहुधा यद्यपि उन में से कोई पक्षपात को सर्वथा छोड़के सच्ची बात को समझने चाहे तथापि उस की बुद्धि झटपट उस का ग्रहण नहीं कर सकती जैसा कि एक समय हम से एक अच्छे पण्डित ने कहा था। सो यहां के पण्डितों की बुद्धि की तो यह दशा है। इस लिये हम कहते हैं कि दर्शनकर्त्ताओं के और निज करके वेदान्तियों के मुख से यद्यपि कितनी ऐसी बातें निकलें जो ऊपर से उन बातों के सदृश देख पड़ें जिन को यूरोप के बड़े सूक्ष्मविचारियों ने बड़े गम्भीर और सूक्ष्मविचार की राह से खोज निकाला है तथापि उन का अच्छा विचार करने से प्रगट होगा कि उन में और इन में कुछ मेल नहीं है। और यद्यपि उन में से कितनी बातें ऐसी भी हों जो सचमुच यूरोप के सूक्ष्मविचारियों

की बातों से मेल रखती हैं तथापि उन के विषय में यह निश्चय करना योग्य नहीं कि वेदान्ती आदिकों ने भी उसी गम्भीर और सूक्ष्मविचार की राह से उन को निकाला है। पर यह समझना चाहिये कि उन में से कितनी बातों को उन्होंने स्वाभाविक विवेकरूपी मित्र की सहायता से विचाररूप समुद्र के किनारे ही पर अथवा केवल हाथ ही दो हाथ के गहिरे में पाया है और कितनों के विषय में ऐसा हुआ कि वे लोग अपने वेठिकाने के हेतुओं से मन मानी बातों को सिद्ध करने चाहते थे तथापि आकस्मिक घटना से वे बातें ऐसी ठहरीं कि बड़े २ सूक्ष्मविचारियों की बातों से मिल गईं ॥

---

६ छठवां अध्याय ।

जिस में यह दिखाया है कि वेदान्ती जो जगत को मिथ्या कहते हैं सो अत्यन्त अयोग्य है और जो कोई समझते हैं कि वेदान्तियों का जगत के विषय में जो मत है सो ज्ञानाभिज्ञविषय-सत्तावादी के मत के समान है उन के लिये उत्तर है ॥

वेदान्ती कहते हैं "जगन्मिथ्या" अर्थात् यह सारा जगत अज्ञान से है करके भासता है पर सच-

मुच यह न कभी था न है न होगा । जैसे शिवगीता में लिखा है ॥

रज्जौ भुजङ्गो भयदो यथैव
न जायते नास्ति न चैति नाशम् ।
त्वन्मायया केवलमात्तरूपं
तथैव विश्वं त्वयि नीलकण्ठ ॥

पर हम वेदान्तियों से पूछते हैं कि जिस जगत की सत्यता का हम को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चय होता है उस को तुम कैसे असत्य ठहराते हो । और जब कि तुम इस प्रकार से प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अनादर करते हो तब तुम्हारी किसी बात का क्या ठिकाना रहा । तब तो तुम ने लौकिकव्यवहार की बातों को और परमार्थसंबंधी बातों को भी उच्छिन्न किया । तब तुम्हारा दूसरों के मत का खण्डन करना और अपना मत स्थापित करना भी कहां रहा ॥

यदि कहो कि प्रत्यक्षादि प्रमाण भी बाधित ठहरते हैं । क्योंकि स्वप्न में हम को यह अनुभव होता है कि रथ गजादिक हैं तथापि वे झूठे ठहरते हैं । तो हम कहते हैं कि यदि किसी प्रमाण की दूसरे प्रमाण से दुष्टता सिद्ध हो तो वह दुष्टप्रमाण अलबत्ता बाधित होता है । पर जिस प्रमाण की दुष्टता सिद्ध नहीं हो सकती उस का क्योंकर अनादर कर सकेंगे । हम

स्वप्न के पदार्थों को इस लिये मिथ्या कहते हैं कि जब जाग उठते हैं तो वे बाधित ठहरते हैं। और इस प्रकार से हर एक मनुष्य को प्रतिदिन उन के मिथ्यात्व का अनुभव होता है इस से उन का मिथ्यात्व निश्चित होता है। पर जगत के पदार्थों का कब किसी को बाधज्ञान हुआ है वरन पीढ़ी से पीढ़ी लों हर एक मनुष्य उन के सत्यत्व का साक्षी है। यदि कहो कि मनुष्य को निद्रावस्था में जगत नहीं देख पड़ता तो हम कहते हैं कि इस से यह नहीं सिद्ध होता कि निद्रित मनुष्य को जगत का बाधज्ञान होता है। क्योंकि उस समय उस मनुष्य को ज्ञान ही नहीं रहता तो बाधज्ञान की कौन बात। और यद्यपि वेदान्ती निद्रावस्था में भी एक प्रकार का ज्ञान मानते हैं और यद्यपि हम उन की इस बात को मान लें तथापि यह नहीं कह सकते कि उस समय उस को बाह्यपदार्थों का बाधज्ञान है। क्योंकि यद्यपि मनुष्य को निद्रावस्था में किसी प्रकार का ज्ञान हो तथापि उस को उस समय बाह्यपदार्थों के ज्ञान की योग्यता नहीं है। और जिस को जिस पदार्थ के ज्ञान की योग्यता नहीं वह उस पदार्थ के बाध का साक्षी नहीं हो सकता। जैसे यद्यपि अंधे को शब्द स्पर्शादिकों के ज्ञान होते हैं तथापि रूप

के ज्ञान की योग्यता नहीं है इस लिये वह रूप के सत्यत्वासत्यत्व का साक्षी नहीं हो सकता॥

फिर तुम स्वप्न के दृष्टान्त से जगत को मिथ्या ठहराने चाहते हो पर हम कहते हैं कि स्वप्न के अनुभव से तो जगत का सत्यत्व ही सिद्ध होता है। क्योंकि तुम और हम दोनों मानते हैं कि स्वप्न भ्रम है। पर भ्रम तो उन्हीं बातों का हो सकता है जिन को कभी सचमुच देखा अथवा सुना है। और इस में यह भी समझो कि जिन बातों का हम को अनुमानादिकों से ज्ञान हुआ है उन के विषय में हम को केवल अनुमित्याद्यात्मक ही भ्रम होगा और प्रत्यक्षात्मक नहीं हो सकता। और जिन को हम ने प्रत्यक्ष से जाना है केवल उन्हीं के विषय में प्रत्यक्षात्मक भ्रम होगा। इस लिये जिन दृश्य स्पृश्यादि पदार्थों के विषय में हम को दर्शन स्पर्शनाद्यात्मक भ्रम होता है उन दृश्य स्पृश्यादि पदार्थों की सच्ची स्थिति मान्ना अत्यन्त आवश्यक है। सो देखो जगत के पदार्थों की सत्यता न केवल प्रत्यक्ष ही से सिद्ध होती है वरन अनुमान से भी सिद्ध होती है। सो जिन की सत्यता ऐसे अवाधित प्रवल प्रमाणों से सिद्ध होती है उन को असत्य ठहराना कैसी अनुचित बात है॥

फिर उस युक्ति का स्मरण करो जो हम ने सांख्य मत की परीक्षा के समय ईश्वरसत्ता को स्थापित करने के लिये कही थी। कि इस जगत की रचना पर दृष्टि करने से निश्चय होता है कि इस रचना को किसी ने जान बूझके अनेक प्रयोजनों के लिये किया है। तो इस से भी तुम्हारी वह बात खण्डित होती है कि यह जगत केवल अनादिसिद्ध अज्ञान से भास रहा है। यदि कहो कि स्वप्न के पदार्थों की रचना भी तो जगत के पदार्थों की रचना के सदृश देख पड़ती है तो क्या स्वप्न भ्रम नहीं है। तो हम कहते हैं कि स्वप्न में वैसी रचना के देख पड़ने का कारण यही है कि हम ने पहिले जगत की सच्ची रचना देखी है जिस को एक कर्त्ता ने जान बूझके किया है। इसी के देखने से स्वप्न में केवल उसी की प्रतिमा देख पड़ती है। परन्तु यदि यह सच्ची रचना देखने में न आती तो स्वप्न में वैसी कभी देख न पड़ती॥

यूरोप में बिशप बर्क्ली नामक एक बड़ा सूक्ष्मविचारी पण्डित था उस का मत जगत के पदार्थों के विषय में और लोगों से अलबत्ता भिन्न है। वह कहता था कि जगत के सब दृश्य स्पृश्यादि पदार्थ जिन के दर्शन स्पर्शनादिकों के विषय में हम को

अनुभव होता है वे सब हमारे दर्शन स्पर्शनाद्यात्मक अनुभव से बाहर और स्वतन्त्र होके नहीं हैं पर वे हमारे अनुभव ही में हैं अर्थात् अनुभवस्वरूप ही हैं। सो वह ज्ञानाभिन्नविषयवादी था। पर वह यह न कहता था कि जिन पदार्थों को हम देखते और छूते हैं वे पदार्थ असत्य हैं। परन्तु उस का तात्पर्य यह था कि वे हमारे अनुभव ही के आकारविशेष हैं। सो और लोगों के और उस के मत में इतना अन्तर है कि और लोग इन घट पटादि दृश्य स्पृश्यादि पदार्थों की अनुभव से स्वतन्त्र होके स्थिति मानते हैं और वह उन की अनुभव ही में स्थिति मानता था। पर वह यह नहीं कहता था कि इन पदार्थों की कल्पना किसी अनादिसिद्ध अज्ञान ने किई है। परन्तु जैसा और सब लोग सर्वशक्तिमान परमेश्वर की अगाध बुद्धि और अचिन्त्य शक्ति से जगत के पदार्थों की उत्पत्ति और उन की प्रतिक्षण की स्थिति को मानते हैं वैसे ही वह भी सूक्ष्मविचारी और ईश्वर का भक्त पुरुष प्रत्येक मनुष्य के बाह्य-पदार्थविषयक अनुभवों की उत्पत्ति और स्थिति को उसी सर्वशक्तिमान परमेश्वर की अगाध और अतर्क्य बुद्धि इच्छा और शक्ति के अधीन मानता था। और जैसे उन अनुभवों की उत्पत्ति और स्थिति उस के

मत से केवल ईश्वरेच्छाधीन है वैसे ही उन का विनाश भी उसी की इच्छा के अधीन है। और हमारा तुम्हारा सामर्थ्य नहीं कि अपने ज्ञान से अथवा और किसी प्रयत्न से उन अनुभवों में कुछ अदल बदल कर सकें। और जो कुछ उन में अदल बदल करने का हम में सामर्थ्य है सो भी उसी के ठहराये हुये नियम के अनुसार से है। जैसा यदि हम को शीत का अनुभव हो तो उस को कपड़ा ओढ़ने से दूर कर सकते हैं पर यह बात ईश्वर ही ने ठहराई। परन्तु उस के ठहराये हुये नियम के विरुद्ध यदि हम चाहें तो कुछ न कर सकेंगे। जैसे यदि हम चाहें कि आग में अपना हाथ डालके शीतलता का अनुभव उत्पन्न करें तो यह कभी न हो सकेगा॥

अब इस सूक्ष्मविचारी का मत ठीक है अथवा नहीं यह तो दूसरा विचार है पर यहां हम केवल इतना कहते हैं कि वेदान्तियों का जगत के पदार्थों के विषय में जो मत है सो इस पण्डित के मत के सदृश भी नहीं है। क्योंकि वेदान्ती जगत के दृश्य स्पृश्यादि पदार्थों को अनुभवरूप अर्थात् प्रत्यक्षादि-ज्ञानरूप नहीं मानते और न उन को किसी प्रकार से सत्य समझते हैं। हम दिखा चुके हैं कि वेदान्ती

उस ज्ञान को जो घट पटादि विषयों का ग्रहण कर-ता है अन्तःकरणवृत्तिरूप मानते हैं फिर चाहो वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक हो चाहो अनुमित्याद्यात्मक हो। और जिन विषयों का ग्रहण वृत्ति करती है उन विषयों को वृत्ति से भिन्न समझते हैं और उन की स्वतन्त्र स्थिति मानते हैं। वृत्ति तो अन्तःकरण का परिणाम है पर जिन विषयों का वह ग्रहण करती है सो अज्ञान का अर्थात् माया का परिणाम है। और इस विषय में उन्होंने अज्ञान को घट पटादि विषयों की ग्रहण करनेवाली वृत्ति से भिन्न पदार्थ ठहराके सांख्य की प्रकृति के समान एक जड़द्रव्य-रूप ठहराया है। और जैसे सांख्यवाले इस दृश्य जगत को प्रकृति का परिणाम कहते हैं वैसे ही वे-दान्ती उस को अपने अज्ञान का परिणाम ठहराते हैं। इस विषय में तो अलबत्ता उन की समझ में बड़ी गड़बड़ है और उस को हम दशवें अध्याय में प्रगट करेंगे। पर इतना निश्चित है कि जैसे और सब लोग तैसे वेदान्ती भी दृश्य स्पृश्यादि विषयों को ज्ञान से भिन्न समझते हैं और दूसरे लोगों से अधिक यह कहते हैं कि वे पदार्थ रज्जुसर्प और शुक्तिरजतादि के समान मिथ्या हैं इस लिये उन के विषय में जो अनुभव हम को होता है सो भ्रमात्मक

है । इसी लिये वेदान्त मत के कितने वड़े २ आचार्य जगतको भी शुक्तिरजत के समान प्रातिभासिक ही समझते हैं और यह कहते हैं कि जगत को जो व्यावहारिक कहके शुक्तिरजतादिकों से भिन्न ठहराते हैं सो केवल मंद बुद्धिवालों को समझाने के लिये है । और इस में क्या आश्चर्य है । क्योंकि हम आठवें अध्याय में दिखावेंगे कि सब वेदान्ती उस अज्ञान को जो उन के मत के समान मानों जगत का बाप है प्रातिभासिक कहते हैं तो वे जगत को प्रातिभासिक क्यों न समझेंगे ॥

पर कोई जगत के पदार्थों के विषय में वेदान्तियों के मत को विशप वर्क्ली के मत के सदृश समझते हैं और कहते हैं कि वेदान्ती जो जगतके दृश्य स्पृश्यादि पदार्थों को व्यावहारिक कहते हैं इस में उन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे मिथ्या हैं पर केवल यह कि उन में ज्ञान से स्वतन्त्र होके सत्ता नहीं है । और यद्यपि वे जगतको मिथ्या कहते हैं तथापि यह केवल उन के बोलनेही की चूक है ॥

इस के उत्तर में हम कहते हैं कि हम को वेदान्त का तात्पर्य ऐसा नहीं जान पड़ता । क्योंकि पहिले तो हम यह कहते हैं कि विशप वर्क्ली उन पदार्थों को जिन को हम देखते और छूते हैं ज्ञानस्वरूप मानता

था और ज्ञानस्वरूप मानके सत्य समझता था। पर हम कह चुके कि वेदान्ती ज्ञान के विषय को ज्ञान से भिन्न और स्वतन्त्र समझते हैं। इस विषय में जो साधारण लोगों की समझ है सोई वेदान्तियों की भी समझ है और उन की वुद्धि वर्क्षों के समान बिचार के गहिराओं में नहीं पैठी है और न पैठने के योग्य है। यह तो प्रगट है कि साधारण लोग ऐसा ही समझते हैं कि जिन पदार्थों को हम देखते और छूते हैं वे पदार्थ—हां वेही पदार्थ और न कि उन के सदृश कोई दूसरे पदार्थ—हमारे ज्ञान से बाहर और स्वतन्त्र होके रहते हैं। वैसे ही वेदान्तियों की भी समझ है। पर यद्यपि यहां लों उन की समझ साधारण लोगों के समान है तथापि उन से बढ़के वेदान्ती यह कहते हैं कि वे पदार्थ अज्ञान कल्पित और मिथ्या हैं। और उन को व्यावहारिक भी कहते हैं। फिर न केवल वे ज्ञान के विषयों को अज्ञानकल्पित और मिथ्या कहते हैं बरन उन के मत से ज्ञान भी अज्ञान कल्पित और मिथ्या है। क्योंकि ज्ञान तो अन्तःकरणवृत्तिरूप है और उन के मत से जैसे घट पटादि पदार्थ तैसे अन्तःकरण भी अज्ञान-कल्पित और मिथ्या है। सो देखो वेदान्तियों के मत से न केवल वे पदार्थ जिन को हम देखते और छूते हैं

मिथ्या हैं पर उन का देखना और छूना भी मिथ्या है। तो ऐसों के मत को हम उस सूक्ष्मविचारी पण्डित वर्क्ली के मत से क्योंकर मिला सकेंगे॥

पर इस बात का कि जगत के पदार्थों के विषय में वेदान्तियों का मत वर्क्ली के सदृश नहीं है परन्तु वे उन को सर्व प्रकार से असत्य ही समझते हैं दूसरा प्रवल प्रमाण यह है। वर्क्ली तो जगत के सब पदार्थों को और जन्म मरण स्वर्ग नरक और उन में के सुख दुःखादिकों को अनुभवरूप समझके सत्य कहता था और यह नहीं कहता था कि किसी प्रकार के ज्ञान से इन सब पदार्थों की निवृत्ति हो सकती है। पर वेदान्ती कहते हैं कि जब मनुष्य को यह ज्ञान होगा कि ये सब पदार्थ—अर्थात वे ही जिन को हम देखते छूते और जिन के विषय में हम को अनुमानादिकों से भी अनुभव होता है—मिथ्या हैं अर्थात् न कभी थे न हैं न होंगे और केवल एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही सत्य है और वही मैं हूं तो उन सभों का वाध हो जायेगा। जैसे शुक्ति के ज्ञान होने से शुक्तिरजत का वाध होता है। जैसे आत्मबोध में लिखा है॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्नज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्॥

इस लिये हम कहते हैं कि जब वेदान्ती इस

लोक और परलोक को और उस में के सब पदार्थों को ज्ञानबाध्य कहते हैं तो उसका और प्रकार से व्याख्यान करके कोई अपने मन में यह न कहे कि वेदान्तियों का ऐसा कुछ तत्पर्य होगा कि जब किसी को ज्ञान उत्पन्न हुआ तो ईश्वरानुग्रह से अथवा और किसी कारण से उस पुरुष का जो इस लोक और परलोक और उन में के पदार्थों के विषय में अनुभव है सो नष्ट हो जाता है। जो कोई वेदान्त के ग्रंथों को पढ़ेगा और उन के आशय को बूझेगा उस को यह प्रगट होगा कि वेदान्ती जगत को उसी रीति से ज्ञानबाध्य समझते हैं जिस रीति से शुक्तिरजत शुक्तिज्ञान का बाध्य है। वेदान्तपरिभाषा के देखने से यह बात प्रगट होगी कि वेदान्ती दो प्रकार का कार्यविनाश मानते हैं। जब बिरोधि वृत्ति के उत्पन्न होने से और दोष के दूर होने से भ्रमरूप वृत्ति का नाश होता है तो उस के विषय का भी नाश होता है यह तो एक प्रकार का कार्यनाश है। और यह मुसलप्रहार से घटके नाश के समान है। इस को वे निवृत्ति कहते हैं। पर जब बस्तु के साक्षात्कार से अज्ञान और भ्रम और उस के विषय दूर होते हैं तो वह दूसरे प्रकार का कार्यनाश है। जैसे शुक्ति के साक्षात्कार से रजत का नाश होता

है*। इस दूसरे प्रकार के नाश को वे बाध कहते हैं। और ऐसा ही उन के मत के अनुसार ब्रह्मज्ञान से अज्ञान और जगत का बाध होता है। सो इन बातों से स्पष्ट है कि वे जगत के पदार्थों को अर्थात् उन्हीं को जिन को हम देखते और छूते हैं शुक्ति-रजत के समान सर्वथा मिथ्या समझते हैं और उन को व्यावहारिक कहते हैं वरन उन की समझ में वे सचमुच प्रातिभासिक ही हैं। यही वेदान्त मत है। पर उन की इन बातों में यदि बहुत सी अनुपपत्ति है तो इस में हम क्या करें। हम तो जानते ही हैं कि उन का मत इस विषय में और दूसरे सब विषयों में भी सर्वथा अनुपपन्न और बाधित है और इसी बात के दिखाने के लिये हम ने इस ग्रंथ के लिखने का परिश्रम किया है॥

यहां हम फिर उस बात का स्मरण दिलाने चाहते हैं जो बात हम ने पूर्वाध्याय के अंत में कही थी। कि यूरोप के पण्डितों के और इस देश के पण्डितों के कहने में कहीं किसी एकाध बात की समानता देखके झटपट यह निश्चय न करना कि उन का मत और

* यह बात उस पक्ष में है जिस में शुक्तिरजत तूलाविद्या का कार्य माना जाता है। पर जिस पक्ष में यह मूलाविद्या का कार्य माना जाता है उस में उस का भी शुक्तिज्ञान से मुसलप्रहार से घट के नाश के समान ही नाश माना जाता है। पर तत्वज्ञान से जो जगत का नाश है सो वैसा नहीं॥

इन का मत एक ही है । विशप वर्क्ली ने जिस मत को निकाला है सो चाहो ठीक हो अथवा नहीं तथापि इस में कुछ सन्देह नहीं कि वह बड़ा गम्भीर बुद्धि और सूक्ष्म विचार करनेवाला था । पर हमारी समझ में यहां के दर्शनकारों की वुद्धि में वैसी शक्ति नहीं है। यह न समझना चाहिये कि जिस राह से और जिस विचार से वर्क्ली ने अपना मत निकाला है ठीक उसी राह और उसी विचार से वेदान्तियों ने भी जगत की व्यावहारिकता का मत निकाला है । यद्यपि कोई कोई ऊपर की बातों में उस के और इन के विचार की राह मिल गई हो और कई बातों में उन दोनों के शब्द भी मिल जायें तथापि मुख्य और मूल बातों में उन में दिन रात्रि का अन्तर है । ऐसा मत निकालने में बड़ी बात जो वेदान्तियों के मन में थी सो यह है कि अद्वैत को सिद्ध करें और जहां के तहीं वैठे हुये केवल ज्ञान से संसार से मुक्त हों और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म बन जावें । इसी लिये वे सारे संसार को अज्ञान-कल्पित बनाके मिथ्या ठहराने चाहते हैं और कहते हैं कि जगत के सब पदार्थ और उन के विषय में हमारा अनुभव ये दोनों कुछ नहीं है । और इन को जो हम हैं करके समझते हैं सो हमारा भ्रम है।

और यह भ्रम अनादिकाल से होता आया है। और अनादिकालसे पूर्व पूर्व भ्रम के संस्कार से उत्तरोत्तर भ्रम उत्पन्न होता जाता है। जैसे कि वेदान्तपरिभापाकार आत्मा के कर्तृत्व के विषय में कहता है। वेदान्ती आत्मा में कर्तृत्व नहीं मानते और कहते हैं कि केवल भ्रम से कर्तृत्व मालूम पड़ता है। वेदान्तपरिभापाकार कहता है कि यदि इस पर कोई शंका करे कि जो कभी सच्चे कर्तृत्व का अनुभव हुआ हो तो उसके संस्कार से कर्तृत्व का भ्रम भी होगा पर जब कि तुम सच्चे कर्तृत्व को कहीं भी नहीं मानते तो उस का भ्रम कहां से होगा तो उस का उत्तर यह है। कर्तृत्वविषयक पूर्व पूर्व भ्रमही के संस्कार से उत्तरोत्तर भ्रम उत्पन्न होता जाता है। यदि कोई पूछे कि सब से पहिला भ्रम किसके संस्कार से उत्पन्न हुआ तो उस का उत्तर यही है कि पहिला भ्रमही नहीं है क्योंकि भ्रम की परम्परा अनादिकाल से होती आई है। वैसेही इन सब दृश्य स्पृश्यादिक पदार्थ और उन के विषय में दर्शन स्पर्शनाद्यात्मक अनुभव की भी कथा है। कि अनादि भ्रमों के अनादि संस्कार ऐसे प्रबल हो गये हैं कि ये सब पदार्थ सर्वथा सत्यही करके भासते हैं। पर जब अनेक जन्मों के जप तप आदि पुण्य कर्मों से

चित्त की शुद्ध होके वेदान्तार्थ का श्रवण मनन नि-
दिध्यासन करते २ वह संस्कार क्षीण होगा और
तत्वसाक्षात्कार उत्पन्न होगा तव जैसे रज्जुतत्वसा-
क्षात्कार से सर्प नहींसा हो जाता है वैसेही जीव
के सब कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म अधर्म सुख दुःख स्थूल
सूक्ष्म कारण शरीर जन्म मरण यह लोक और
परलोक सबके सब जहां के तहीं नहीं से हो जायेंगे
और वह जीव ब्रह्म का ब्रह्म वन जायेगा। यह
वेदान्त का मत है। यदि वेदान्तियों का मत विशप
वर्क्ली के मत के ऐसा होता तो उन को उस ज्ञान
से और सब उपनिषद और सूत्रभाष्य और अगणित
वेदान्त के ग्रंथों से क्या लाभ होता॥

क्या यह हो सकता है कि ये जो सब चित्र
विचित्र पदार्थ हैं जिन के विषय में हम को अनुभव
होता है कि हम उन को देखते छूते खाते पीते
इत्यादि उन को वेदान्ती सत्य समझें। यदि वे सत्य
हैं तो क्या ब्रह्म से भिन्न हैं अथवा ब्रह्मरूप। यदि
भिन्न कहो तो अद्वैत कहां रहा। और यदि अभिन्न
कहो तो क्या वह निर्गुण निष्क्रिय निर्विकार नित्यशुद्ध
बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्मही ऐसा चित्र विचित्र रूप हो
गया। नहीं नहीं वेदान्ती ऐसा नहीं मान सकते।
इसी लिये तो वे इस जगत के नाम रूप को मिथ्या

और अज्ञानकल्पित मानते हैं। उन में जो सत्ता भासती है वह तो सत्य है क्योंकि वह उन की सत्ता नहीं पर उन के अधिष्ठानभूत ब्रह्म की है। जैसे शुक्तिरजत में जो सत्ता भासती है सो शुक्ति रजत की नहीं पर शुक्ति की है। पर जगत में जितने नाम रूपादि भेद हैं वे सब अज्ञानकल्पित और मिथ्या हैं। यदि कोई कहे कि यदि वेदान्ती ब्रह्म को उसी प्रकारसे जगत का विवर्तोपादान मानते हैं जैसे शुक्ति रजत का तो उन को न केवल जगत की सत्ता को वरन उस के रूप को भी सत्य समझना चाहिए। क्योंकि जिस पुरुष को शुक्ति पर रजत का भ्रम होता है उस का उस शुक्ति को रजत करके समझना यद्यपि भ्रम है तथापि वह रूप जो उस को देख पड़ता है सो सत्य ही है। तो हम कहेंगे कि इस में कुछ संदेह नहीं कि वेदान्ती ब्रह्म को इस जगत का विवर्तोपादानरूप अधिष्ठान मानते हैं और तथापि जगत के नाम रूप को असत्य ठहराते हैं। पर इस विषय में यदि किसी को शंका होती हो तो उस से हम कहेंगे कि तुम वेदान्तियोंही से प्रश्न करो हम को उन से क्या काम। जैसा कुछ उन का मत है उस को हम ने वर्णन किया॥

पर यहां भी यदि किसी के मन में यह कल्पना

उपजे कि वेदान्तियों का मत बर्क्ली के मत के समान ही होगा और वह कहे कि वेदान्ती यद्यपि ऐसी बोली बोलते हैं कि ब्रह्म जगत का विवर्त्तोपादानरूप अधिष्ठान है तथापि यह न समझना चाहिये कि उन का उस बात पर तात्पर्य है। पर उन का यही तात्पर्य है कि इस जगत का जो हम को ज्ञान होता है उस ज्ञान से यह जगत भिन्न नहीं पर ज्ञानरूपही है और वह ज्ञान ब्रह्मरूप है इसलिये जगत ब्रह्मरूप है और जगत के इसी ब्रह्माभिन्नत्व को प्रगट करने के लिये वे कहते हैं कि ब्रह्म जगत का अधिष्ठान है। तो इस के उत्तर में हम कहते हैं कि इस बात को हम दिखा चुके हैं कि जिस ज्ञान से हम जगत के घट पटादि विषयों को जानते हैं उस ज्ञान को वे ब्रह्मस्वरूप नहीं मानते पर वृत्तिरूप कहते हैं। इसलिये यह न समझना चाहिये कि वे जगत को ज्ञान विषय समझके ब्रह्मरूप कहते हैं। और यद्यपि ऐसी बोली उन के मुंह से निकले कि यह जगत केवल चिन्मात्र है इत्यादि तो उस का अर्थ उस सीधी राह से न समझना चाहिये जिस राह से अभी वर्णन किया गया। पर वे जगत को इसी लिये ब्रह्मरूप कहते हैं कि जगत का ब्रह्म के ऊपर आरोप किया गया है जैसे शुक्ति पर रजत का। इस लिये वे तीन

प्रकार का चैतन्य मानते हैं। एक प्रमातृचैतन्य दूसरा प्रमाणचैतन्य तीसरा विषयचैतन्य। और विषय-चैतन्य कहने में उन का तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरण की वृत्ति विषयों का ग्रहण करती है कि यह घट है यह पट है इत्यादि तो सचमुच वे घट पटादि विषय कुछ हैं ही नहीं केवल उन का चैतन्य पर आरोप हुआ है इस लिये वे चैतन्यरूप अर्थात ब्रह्मरूपही हैं। उन में जो सत्ता भासती है सो ब्रह्म की है। और वैसेही जिस ब्रह्म पर उन का आरोप हुआ है वह चैतन्यरूप है इसी लिये वे भासते भी हैं और इसी लिये उन को चिद्रूप और चिन्मय भी कहते हैं। पर उन पदार्थों में जो नामरूप भासते हैं सो मिथ्या और अज्ञानकल्पित हैं। देखो इन बातों से कैसे स्पष्ट होता है कि वे जो जगत को ब्रह्मरूप कहते हैं सो उस के ग्रहण करनेवाले ज्ञान से अभिन्न समझके नहीं कहते। क्योंकि यदि यह उन का तात्पर्य होता तो घट पटादिकों को और नामरूप को क्यों आरोपित और मिथ्या कहते। क्या ये पदार्थ भी ज्ञान में नहीं भासते और क्या उन को भी ज्ञानस्वरूप मानके सत्य कहना योग्य नहीं है। पर सच बात यह है कि वेदान्तियों की ये सब बातें गड़बड़ से भरी हुई हैं उन में कहीं युक्ति

का और संगति का ठिकाना नहीं है। फिर न केवल उन के मत से घट पटादि पदार्थही मिथ्या हैं पर उन का ग्रहण करनेवाला अन्तःकरण आप अपनी सब वृत्तियों समेत मिथ्या है जैसा कि हम कह चुके। फिर वह अज्ञान भी जिस ने इन सभों की कल्पना किई है मिथ्या है जैसे कि हम आठवें अध्याय में दिखावेंगे। तो हम कहते हैं कि ऐसे लोगों के मत को दूसरे किसी के मत से क्योंकर मिला सकेंगे॥

---

७ सातवां अध्याय।

जिस में यह दिखाया है कि जीव अज्ञानी है इस लिये परमात्मा नहीं हो सकता और जो लोग अज्ञान को मिथ्या ठहराने के लिये मिथ्या शब्द का अर्थ अनित्य ठहराते हैं वे ऐसा करने से अपने दोष को दूर नहीं कर सकते॥

वेदान्ती कहते हैं कि "जीवो ब्रह्मैव नापरः"। अर्थात जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है पर ब्रह्म ही है। इस में यदि हम उन से पूछें कि यह क्योंकर हो सकता है। क्योंकि जीव को तो तुम कहते हो कि वह अज्ञान के कारण से भ्रान्त है। पर ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इस बात को याद रखना

चाहिये कि वेदान्ती ब्रह्म को सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव मानते और कहते हैं कि वह अपने इस शुद्ध स्वभाव से क्षण भर भी च्युत नहीं हो सकता। तथापि इस जीव को ब्रह्म ठहराते हैं। इस लिये यदि हम उन से पूछें कि यह क्योंकर हो सकेगा तो वे इस शंका के दूर करने के लिये शब्दों का वड़ा जाल फैलाते हैं। कोई तो कहते हैं कि अन्तःकरण में जो ब्रह्म का प्रतिविंव पड़ा है सोही जीव है और उसी में भ्रान्ति रहती है इस लिये उस भ्रान्ति का ब्रह्म से कुछ संवंध नहीं है। फिर कोई कहते हैं कि अन्तःकरणावछिन्न जो चैतन्य है सोई जीव है पर उस भ्रान्ति की स्थिति शुद्ध चैतन्यांश में नहीं है परन्तु उस के विशेषण में अर्थात अन्तःकरण में है। ऐसे ऐसे उत्तरों की भूल तो अत्यन्त प्रगट है। क्योंकि जिस में यह भ्रान्ति है सो यदि परमात्मा से भिन्न है और वही जीव है तो उसे यह उपदेश करना कि तूही ब्रह्म है केवल ठगना है। क्योंकि किस को तुम उपदेश करते हो कि तू ब्रह्म है। क्या भ्रान्त को अथवा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वाभाव ब्रह्म को। यदि कहो कि भ्रान्त को तो हम कहेंगे कि तुम ने तो उस भ्रान्त को ब्रह्म से भिन्न कहा इस लिये उस को तू ब्रह्म है यह सिखाना केवल ठगना है। यदि कहो कि

नहीं हम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वाभाव ब्रह्म ही को यह उपदेश करते हैं तो हम कहते हैं कि यह तो अत्यन्त निरर्थक परिश्रम है ॥

पर वेदान्तियों की यह दशा भई है कि जितनाही वे नामों को बढ़ाते हैं उतनाही अधिक आप भूल में फंसते हैं और औरों को भी भुलाते हैं। इस लिये उन के साथ विचार करने में जिस राह से कम नाम लेना पड़े उसी राह से बोलना अच्छा है। इस लिये इस विषय में भी हम जीव का नाम लेनाही छोड़ देते हैं और यह कहते हैं कि हे वेदान्तियो हम को जो यह जगत है करके मालूम पड़ता और हम केवल अल्पज्ञ जीव हैं ऐसा मालूम होता है सो यह हमारा मालूम पड़ना यदि तुम्हारी समझ में भ्रम है तो हम भ्रान्त ठहरे तब हम परमात्मा कैसे हो सकेंगे। क्योंकि परमात्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इस लिये तुम्हारा हम को यह उपदेश करना कि तू ब्रह्म है अत्यन्त अयोग्य है। और जब कि हम परमात्मा नहीं हैं पर उस से भिन्न हैं तो अद्वैत का सिद्धान्त भी खण्डित होता है। पर वेदान्ती कहते हैं कि नहीं तुम सचमुच भ्रान्त नहीं हो पर केवल अपने को तुम ने भ्रान्त मान लिया है। इस के उत्तर में हम कहते हैं कि यदि

हम भ्रांत न होके भी अपने को भ्रांत मानते हैं तो क्या इस से हम भ्रांत ही न ठहरे। फिर कभी २ वेदान्ती कहते हैं कि तुम सचमुच भ्रांत नहीं हो पर केवल अन्तःकरण तुम पर भ्रांति का आरोप करता है। तो हम पूछते हैं कि यदि अन्तःकरण ऐसा आरोप करता है तो इस से हम को क्या। तो क्या तुम्हारी समझ में हम ज्ञानी ही हैं। पर इस में हम तुम को किस लिये पूछें। क्योंकि हम को तो जगत सत्य करके देख पड़ता है और यह भी मालूम होता है कि हम अल्पज्ञ दीन मलिन जीव हैं। पर ऐसा जान्ना यदि तुम्हारी समझ में भ्रांति है तो निश्चित है कि तुम्हारी दृष्टि में हम भ्रांत हैं॥

फिर कभी २ वेदान्ती और प्रकार की बोली निकालते हैं और कहते हैं कि तुम तो भ्रांत हो पर जो तुम भ्रांत हो सो ब्रह्म नहीं हो परन्तु जो तुम शुद्धस्वरूप हो सो ब्रह्म हो। तो हम कहते हैं कि क्या ऐसे दो हम हैं। हम तो एक ही हम को जानते हैं और वे हम तो तुम्हारी समझ में भ्रांत हैं। और तुम्हारे कहने के अनुसार जो भ्रांत हम हैं और जिन हम को हम पहिचानते हैं उन्हीं की मुक्ति की हम को रात दिन चिन्ता रहती है। पर उस शुद्ध हम

की* हम को कुछ भी चिन्ता नहीं है। और हम फिर तुम से पूछते हैं कि क्या तुम भ्रांत हम को तू ब्रह्म है ऐसा उपदेश करते हो अथवा शुद्ध हम को। यदि कहो कि पहिले को तो वह ठगना है और यदि कहो कि दूसरे को तो वह निरर्थक है। पर वेदान्ती कहते हैं कि नहीं जी तुम हमारा तात्पर्य नहीं समझे। हमारे कहने का यह तात्पर्य है कि तुम तो भ्रांत हो पर भ्रांतिविशिष्ट तुम को अर्थात् विशेषण समेत को हम ब्रह्म नहीं कहते पर उस विशेषण को छोड़के अर्थात् भ्रांति को छोड़के जो तुम्हारा चैतन्यांश है उस को हम ब्रह्म कहते हैं। (जब वेदान्ती अपने महावाक्य का अर्थ लगाते हैं जिस में जीवब्रह्मैक्य का प्रतिपादन रहता है तब यही बात कहते हैं जो अभी हम ने कही। जो कोई वेदान्त के ग्रंथों को पढ़ेगा सो जानेगा) इस बात को सुनके हम वेदान्ति से कहते हैं कि अब तो हम ने आपके तात्पर्य को समझा पर अब हम को देख पड़ता है कि इतना सब परिश्रम करके आप ने कुछ सिद्ध नहीं किया। क्योंकि हमारा तो यही

---

*"हम की" ऐसा प्रयोग यद्यपि शुद्ध नहीं है तथापि वेदान्ति ने यहां हम शब्द को स्वभिन्नपदार्थवाचक बना डाला इस लिये हम ने यहां वैसा प्रयोग किया॥

कहना है कि वह हमारा चैतन्यांश जिस में भ्रांति रहती है कदापि परमात्मा नहीं हो सकता। क्योंकि जब हमारे चैतन्यांश में भ्रांति रहती है तो क्या वह नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा हो सकता है। यह अच्छी तुम ने हम को नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ठहराने की युक्ति निकाली। यह तो ऐसा है जैसा कोई डांकू को साव कहे। और यदि कोई पूछे कि यह क्योंकर हो सकता है तो कहे कि मैं उस के डांकू पन को छोड़के उस के मनुष्यत्वांश को साव कहता हूं। हे वेदान्तियो यह कैसी तुम्हारी समझ है। यदि इस प्रकार से तुम किसी को शुद्ध ठहराओ तो फिर अशुद्ध कौन ठहरेगा। पर वेदान्ती कहते हैं कि हमारी समझ में तो कोई अशुद्ध नहीं है। तो हम पूछते हैं कि क्या तुम्हारी समझ से सब शुद्ध हो गये। भाइयो जिस बात के प्रगट करने के लिये शुद्ध यह नाम दिया जाता है यदि वह बात किसी में न हो तो क्या उस को शुद्ध ऐसा नाम देने में कुछ लाभ है। भाषा में जो हर एक शब्द के अर्थ ठहराये हैं सो एक २ तात्पर्यभूत अर्थ के प्रगट करने की इच्छा से ठहराये हैं। पर यदि कोई हेत्वाभासों से मोहित होके अपने इष्ट मत के सिद्ध करने के लिये किसी बुरी वस्तु को वह नाम दे जो भाषा के

प्रवर्त्तक ने भली वस्तु के प्रगट करने के लिये ठहराया है तो इस से न समझे कि उस ने उस बुरी वस्तु को भी अच्छी बनाया । किसी वस्तु का भलापन अथवा बुरापन नामों के बदलने से नहीं प्रगट होता पर उन धर्मों से प्रगट होता है जिन के रहने से वह वस्तु प्रिय अथवा अप्रिय सह्य अथवा असह्य प्रशंसनीय अथवा निन्द्य इत्यादि ठहरती है । हम पूछते हैं कि तुम जो परमात्मा को नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कहते हो सो क्या इस लिये कहते हो कि उन अक्षरों में ऐसा कुछ गुण है कि जिस पदार्थ पर उन को लगावें वह पदार्थ उत्तम ठहरता है अथवा इस लिये कि परमात्मा आप ही उत्तम है और उस के उत्तम स्वरूप को वे नाम प्रगट करते हैं क्योंकि भाषाके प्रवर्त्तक ने उन शब्दों को वैसे ही तात्पर्य के प्रगट करने के लिये ठहराया है । यदि तुम थोड़ा सा विचार करोगे । तो जानोगे कि यह बात नहीं है कि उन नामों के योग से परमात्मा उत्तम होता है पर वह उत्तम है इसी लिये वे नाम उसे दिये जाते हैं । सो यह बात प्रगट है कि एक प्रकार के अच्छे पन को प्रगट करने के लिये शुद्ध ऐसा नाम दिया जाता है । पर जिस चैतन्य में भ्रांति रहती है उस में तो वह अच्छापन नहीं है

तो उस को शुद्ध ऐसा नाम देने से क्या लाभ होगा और वह कैसे उस परमात्मा से जो सचमुच अच्छा है अभिन्न हो सकेगा । पर अब उस चैतन्य में सच-मुच वह अच्छापन है अथवा नहीं इस बात को तुम उसी के स्वरूप से विचारो न कि उस को अच्छे अच्छे नाम देके उन नामों से भुलाये जाओ। सो हम तुम से पूछते हैं कि जो भ्रांति में फंसके पा-गल हो गया है और सब प्रकार की दुष्टता और उस के कारण से दुर्दशा में फंसा है क्या उस दशा को तुम अच्छी दशा ठहराते हो । और यद्यपि ऐसे को तुम शुद्ध निर्विकार और नित्यानन्द कहो तथापि यह तो निश्चित है कि वह दशा सर्वथा अप्रिय दुस्सह और निन्द्य है इस लिये बुरी है । और इस से यह बात प्रगट होती है कि उस दशा वाले को जो तुम ने अच्छे के बोधक नाम दिये हैं इस में तुम्हारी भूल है । यदि ऐसी दशा वाला तुम्हारी समझ में शुद्ध और निर्विकार है तो हम पूछते हैं कि क्या ऐसा ही शुद्ध और निर्विकार तुम अपने ब्रह्म को ठहराते हो । तब ऐसा ब्रह्म बन्ने में क्या अधिकता है । भाइयो थोड़ा सा मन को स्थिर करके सोचो कि यह कैसी गड़बड़ तुम मचाते हो और सब बातों को उलटी पुलटी कर डालते हो । क्या तुम्हारा

भी मन नहीं तुम को वताता कि हमारी तुम्हारी दशा सचमुच अत्यन्त बुरी है। और यद्यपि तुम हम को और अपने को शुद्ध और निर्विकार कहो तथापि हम तुम सचमुच वैसे नहीं हैं जैसा परमात्मा है। क्योंकि यदि हम तुम वैसे ही हैं तो हम को तुम को मुक्ति के लिये चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है। सो इन सब वातों को सुनके यदि इतना विवेक तुम्हारे मन में आ जाए कि परमात्मा की दशा में और हमारी दशा में इतना भेद है कि वह भ्रांति और दुष्प्रतादिकों से मुक्त है पर हम उन में फंसे हैं। तो फिर यह भी सोचो कि परमात्मा इन सब वातों से सदा ही मुक्त रहता है। क्योंकि अब इस विषय में तुम से वोलने में हम और भी नामों को कम करते हैं और शुद्ध अशुद्ध निर्विकार और सविकार इत्यादि कुछ न कहके तुम से यह कहते हैं कि जैसे हम हैं वैसा परमात्मा एक क्षण भर भी नहीं हो सकता। और यदि तुम भी अपने भीतर के स्वाभाविक विवेक की वाणी को कान लगाके सुनोगे तो तुम को भी यही मालूम पड़ेगा। सो जब कि परमात्मा क्षण भर भी ऐसा नहीं हो सकता जैसे हम हैं तो हम जो ऐसे हैं जैसे हैं और तुम्हारे मत से तो अनादि काल से ऐसे हैं सो हम परमात्मा नहीं हो सकते॥

भाइयो तुम इस विषय में यह अद्भुत भूल करते हो कि गुणी को ऐसा समझते हो कि मानो वह गुणों से पृथक होके रहता है और गुणों के बुरे होने से भी मानो गुणी शुद्ध रहता है । पर यह ऐसा कहना है कि किसी के शरीर के नाक कान हाथ पांव अंगुली आदिक अंग गलित कुष्ठ से घिनौने हो गये हैं तथापि उस का शरीर शुद्ध और दिव्य है । क्योंकि हम ने सांख्य के विचार में दिखाया है कि गुण अपनी गुणी के स्वरूप में भागी है । क्योंकि गुण अपने गुणी को छोड़के स्वतंत्र होके रह नहीं सकते और न कभी सब गुणों से पृथक होके गुणी की भी स्थिति हो सकती है । इस लिये जो गुणों का बुरा होना है सो ही गुणी का बुरा होना है । क्योंकि यदि ऐसा न मानो तो फिर कोई भी बुरा न होगा । इस पर यदि तुम कहो कि सचमुच कोई बुरा नहीं है तो हम वही उत्तर देंगे कि तुम अपनी भूल से ऐसा कहो पर जिस प्रकार की दशा वालों के बोध न करने के लिये बुरा यह नाम ठहराया गया है उस प्रकार की दशा वाले तो हम तुम हैं । और ऐसों को बुरा कहने से हम को यही प्रगट करना है कि हमारी तुम्हारी दशा अप्रिय और दुःसह और निन्द्य है । और ऐसी दशा तो पर-

मात्मा की नहीं है इस लिये हम तुम परमात्मा नहीं हैं ॥

इसी प्रकार से वेदान्ती समझते हैं कि हम अज्ञान को मिथ्या कहें तो सब दोष उड़ जाते हैं। वे कहते हैं कि तुम तो परमात्मा ही हो तथापि यह मत समझो कि तुम्हारी भ्रांति का परमात्मा से कुछ संबंध है क्योंकि वह भ्रांति अज्ञान से है और वह अज्ञान मिथ्या है । इस लिये यद्यपि तुम उस मिथ्या अज्ञान के मिथ्या संबंध से जीव कहलाते हो तथापि तुम सचमुच जीव भी नहीं हो। और जब तुम सचमुच जीव नहीं हो तो सचमुच बद्ध भी नहीं हो और इस लिये तुम्हारा मुक्त होना भी सत्य नहीं है । सो तुम जानो कि तुम्हारा अज्ञानी होना जीव होना बद्ध होना पाप पुण्य करना सुख दुःख भोगना ज्ञान प्राप्त करना मुक्त होना इत्यादि सब बातें मिथ्या हैं पर तुम सचमुच नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म हो ॥

यहां हमारी उस बात का स्मरण करना चाहिये जिस को हम कह आये हैं । कि वेदान्ती अपने अज्ञान को जिसे वे माया और अविद्या भी कहते हैं भ्रमरूप नहीं समझते । पर वह उन की समझ में भ्रम से भिन्न पदार्थ है और भ्रम का कारण है ।

जगत के घटपटादि पदार्थ जो सचमुच नहीं हैं उन का भासना कि यह घट है यह पट है इत्यादि सो तो भ्रम है। और यह भ्रम अन्तःकरण की वृत्ति है। क्योंकि जितने प्रकार के ज्ञान हैं वे सब अन्तःकरण की वृत्तिरूप हैं। और भ्रम भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का कहलाता है एक यथार्थ और दूसरा अयथार्थ और जो अयथार्थ ज्ञान है सो ही भ्रम है। और जगत के पदार्थों के विषय में जो प्रत्यक्ष अनुमित्याद्या-त्मक ज्ञान होता है सो यद्यपि व्यवहार दशा में यथार्थ कहलाता है (देखो वेदान्तपरिभाषामें) तथापि सचमुच वह भ्रम ही है और वह अन्तःकरण का धर्म है। सो वेदान्ती इस प्रकार से इस भ्रम को अन्तःकरण के गले में बांधके अपनी समझ में आत्मा को उस से शुद्ध रखते हैं। पर वे अज्ञान को अर्थात् माया को इस भ्रम का कारण ठहराते हैं, तो उस को किस पर रखेंगे। उस को अन्तःकरण में नहीं ठहरा सकते क्योंकि वह अन्तःकरणवृत्तिरूप नहीं है। और अन्तःकरण आप ही उस अज्ञान का कार्य है तब वह उस का आश्रय क्योंकर हो सकता है। इस लिये निरुपाय होके वेदान्ती ब्रह्म ही को अज्ञान का आश्रय ठहराते हैं। तथापि ब्रह्म को शुद्ध ठहराने के लिये उस अज्ञान को भी मिथ्या कहते हैं॥

वेदान्तियों का अज्ञान के विषय में जो मत हम ने यहां दिखाया है सो हमारी समझ में बड़ी गड़बड़ और भूल से भरा हुआ है। अज्ञान को वे न तो भ्रमरूप समझते हैं और न ज्ञानाभावरूप समझते हैं तथापि उस को मिथ्या वस्तु का कल्पक और तत्वज्ञान बाध्य समझते हैं। फिर उस को सविषयक पदार्थ भी समझते हैं और उस में यह भी चमत्कार है कि उस को असत्य वस्तु विषयक नहीं पर सत्य वस्तु विषयक समझते हैं। सो जैसे जैसे धर्म वे अपने अज्ञान में ठहराते हैं उन के अनुसार से हम को यही जान पड़ता है कि वे उस को जो चाहें सो कहें पर वह सचमुच सत्य वस्तु ज्ञानाभाव और असत्य वस्तु विषयक भ्रम इन दो पदार्थों से मिश्रित रूप है। क्योंकि इन दो पदार्थों के सिवाय और कोई उस प्रकार का पदार्थ नहीं हो सकता॥

वे अपने अज्ञान को सत्य वस्तु विषयक समझते हैं और यह धर्म भ्रम का नहीं है। क्योंकि भ्रम तो असत्य वस्तुविषयक ज्ञान को कहते हैं जैसे शुक्तिरजत विषयक ज्ञान। पर वेदान्ती अपने अज्ञान को सत्य वस्तु विषयक अर्थात् शुद्ध ब्रह्म विषयक कहते हैं। जैसे कि संक्षेप शारीरककर्त्ता अज्ञान के आश्रय और विषय के विषय में कहता है॥

आश्रयत्व विषयत्व भागिनी। निर्विभागचितिरेव केवला॥

सो उन के इस कहने से हम को यह जान पड़ता है कि उन का अज्ञान सत्य वस्तु विषयक ज्ञानाभाव रूप है। क्योंकि यद्यपि सत्य वस्तु विषयकत्व जैसे भ्रम का धर्म नहीं हो सकता तैसे ज्ञानाभाव का भी नहीं हो सकता क्योंकि अभाव सविषयक पदार्थ नहीं है। तथापि उस का जो प्रतियोगी है अर्थात् ज्ञान उस में सत्य वस्तु विषयकत्व हो सकता है। इस लिये यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि सत्य वस्तु विषयकत्व ज्ञानाभाव का धर्म है तथापि जब वेदान्ती अपने अज्ञान को सत्य वस्तु विषयक कहते हैं तो उन की समझ की गड़बड़ को हटाके जो कुछ उस में छिपा हुआ सत्यार्थ का अंश है उस को प्रगट करने के लिये हम इतना कह सकेंगे कि वेदान्तियों का जो अज्ञान है सो सचमुच सत्य वस्तु विषयक ज्ञान का अर्थात् शुद्ध ब्रह्म विषयक ज्ञान का अभाव है। और हमारी समझ में यही उन के अज्ञान की आवरणशक्ति है। अर्थात् सत्य वस्तु का आवरण करना। सत्य वस्तु का आवरण क्या है सत्य वस्तु ज्ञानाभाव ही है। पर वे उसी को अज्ञान कहने के बदले अज्ञान को एक भावरूप पदार्थ ठहराके उस को केवल अज्ञान की एक शक्ति मानते हैं॥

अब यदि वे अपने अज्ञान के विषय में केवल

इतना ही कहते तो हम समझते कि उन का अज्ञान ज्ञानाभावरूप है। पर वे उस अज्ञान को मिथ्या जगत का अर्थात् एक असत्य वस्तु का कल्पक भी समझते हैं। और असत्य पदार्थ की कल्पना करना तो ज्ञानाभाव का काम नहीं परन्तु वह भ्रम का स्वरूप है। सो जब कि वेदान्ती अपने अज्ञान को असत्य जगत का कल्पक ठहराते हैं तो इस से यह सिद्ध होता है कि वह अज्ञान भ्रम है। और यही वेदान्तियों के अज्ञान की दूसरी शक्ति अर्थात् विक्षेप-शक्ति है। विक्षेप यही है कि वस्तु के ऊपर अवस्तु का भावना और यही भ्रम है। पर वेदान्ती उसी को अज्ञान कहने के बदले उस को अज्ञान की एक शक्ति मानते हैं॥

इस विषय में वेदान्ती जो ऐसी गड़बड़ में पड़ते हैं उस का कारण यह है। हम ने कहा कि जगत के पदार्थों के विषय में जो हम को प्रत्यक्ष अनुमित्या-द्यात्मक ज्ञान होता है वही उन की समझ में भ्रम है। और उन्हों ने इस भ्रमात्मक ज्ञान से आत्मा को शुद्ध रखने के लिये उस को अन्तःकरण के सिर पर रखा है। पर वे इसी भ्रमात्मक ज्ञान को अज्ञान नहीं ठहरा सकते। क्योंकि वे चाहते हैं कि अज्ञान को सकल प्रपञ्च का कारण ठहरावें जिसतें सकल

प्रपञ्च मिथ्या ठहरे। पर यदि अन्तःकरण वृत्तिरूप भ्रम ही को अज्ञान कहे तो वह सब वाह्य प्रपञ्च का कल्पक तो ठहरेगा। पर अन्तःकरण का कैसे ठहरेगा। तब अन्तःकरण कैसे मिथ्या हो सकेगा। देखो यहां वेदान्तियों को कैसी कठिनता आ घेरती है और वे अपने को उस से छुड़ाने के लिये प्रयत्न करने में कैसी आश्चर्यकर भूल की जाल में फंसते हैं॥

इसी गड़वड़ में फंसने के कारण से उन की इस विषय में और भी भूल वढ़ती है। उन्हों ने अज्ञान को भ्रम से भिन्न ठहराया तो अब यद्यपि वे उस को इस मिथ्या जगत का कल्पक कहते हैं तथापि उस की कल्पकता को भ्रम के समान कैसे कह सकेंगे। क्योंकि जो वस्तु नहीं है उस को है करके जान्ना यही तो भ्रम का कल्पकत्व है। इसी लिये भ्रम का विषय मिथ्या कहलाता है। सो वेदान्ती जब कि जगत का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये उस को अज्ञानकल्पित कहते हैं तो चाहता था कि उस अज्ञान की कल्पकता को इसी प्रकार की समझते। पर जब कि वे एक भूल में पड़के अज्ञान को भ्रम से भिन्न पदार्थ मान्ने लगे तो उस की कल्पकता को उस प्रकार की मान्ना भी उन को कठिन है। सो देखो अब उन की क्या दशा होती है। अब उन को वह

अज्ञान अर्थात् माया सांख्य की प्रकृति के समान एक जड़द्रव्यरूप दिखाई देने लगी और अब उसकी कल्पकता क्या है। वह भी सांख्य की प्रकृति के समान और नैयायिकों के परमाणुओं के समान सकल प्रपञ्च की सचमुच उपादानकारणता है। पर यह क्या हुआ। क्या जगत सत्य ठहरा और अद्वैत नष्ट होके द्वैत खड़ा हुआ। इस का उत्तर यही है कि यह सब वेदान्तियों के समझ की दुर्दशा है पर इस से धोखा खाना न चाहिये। वे जगत को सत्य कभी न कहेंगे। तब तो वेदान्त मत का सारा पसारा व्यर्थ होगा। तब न जीव ब्रह्म हो सकेगा और न ज्ञान से मुक्ति हो सकेगी। इसी बात को हम दसवें अध्याय में प्रगट करेंगे। अन्तःकरणादि सकल प्रपञ्च का मिथ्यात्व ही तो अद्वैत मत का जीव है। पर हम नवें अध्याय में यह दिखानेवाले हैं कि वेदान्तियों की बुद्धि ऐसी दुर्बल है कि यद्यपि वे किसी पदार्थ को मिथ्या ठहराते और उस को प्रातिभासिक और व्यावहारिक कहते हैं तथापि ज्योंही उन्हों ने उन पदार्थों को ऐसे नाम दिये त्योंही वे पदार्थ उन को सत्य करके भी मालूम पड़ने लगते हैं। इस लिये जब वे अपनी माया को सांख्य की प्रकृति के समान जगत का उपादान मानने लगते हैं तब वह उन को प्रकृति के

ऐसी इस विशाल प्रपञ्च को सचमुच प्रसवती भी दिखाने लगती है और तव यह प्रपञ्च भी एक प्रकार से सत्यसा मालूम पड़ने लगता है। तथापि इस में कुछ सन्देह नहीं कि इस जगत को सर्वथा असत्य ठहराना ही अद्वैत मत का जीव है। और हम को चाहिये कि जिस मत की जो मुख्य और मानों जीवभूत वात है उसी के अनुसार उस मत की और सव वातों को भी लगावें। और यदि उस मुख्य वात में और उन वातों में विरोध देख पड़े तो निश्चय करना चाहिये कि इस विषय में उस मतवादी की समझ की दुर्वलता और भूल है। पर यह उचित नहीं कि उस मुख्य वात को उलटा दे और इस प्रकार से मानों उस मत के जीव को निकालके उस को शवरूप कर डाले वरन उस को मतान्तरही वना डाले जिसतें उस की सव वातें सयुक्तिक ठहरें। सो हम कहते हैं कि इस में सन्देह न करना चाहिये कि वेदान्ती जगत को सचमुच मिथ्या ठहराने चाहते हैं और इसी लिये उस को तत्वज्ञानवाध्य भी समझते हैं। फिर जगत कल्पक अज्ञान को भी तत्वज्ञानवाध्य समझते हैं॥

और यही उन के अज्ञान का तीसरा धर्म है जो भ्रम के धर्म से मिलता है। यदि अज्ञान प्रकृति के

समान जगत का उपादानकारण होता तो तत्व-ज्ञानवाध्य कैसे होता। पर वस्तु के तत्वज्ञान से उस वस्तु के ऊपर जो असत्य वस्तु विषयक भ्रम होता है सो अलबत्ता दूर हो सकता है। और यहां जो हम ने उस अज्ञान की तत्वज्ञानवाध्यता कही सो केवल आत्मा से दूर होके देशान्तर में जाके रहना नहीं है। क्योंकि सांख्य वाले भी तत्वज्ञान से प्रकृतिक आत्मा से मानों दूर होना अर्थात् आत्मा का प्रकृति के बंधन से छूट जाना मानते हैं। पर वेदान्तियों का जो तत्वज्ञान से अज्ञान का वाधित होना है सो उस का सर्वथा नहीं सा होना है। और यह तो भ्रम का धर्म है॥

सो हम कहते हैं कि इस विषय में वेदान्ती चाहें तैसी गड़बड़ में फसें पर हम को यही समझना चाहिये कि वेदान्ती जब अपने अज्ञान को जगत का कल्पक कहते हैं तो उस अंश में उन का अज्ञान भ्रमरूप ही है और वह केवल उसी प्रकार से जगत का कल्पक है जैसे भ्रम अपने असत्यविषय का कल्पक होता है॥

पर इन दो बातों से अर्थात् मिथ्या जगत का कल्पक होने से और तत्वज्ञानबाध्य होने से जैसे वह अज्ञान भ्रमरूप ठहरता है तैसे ही वे उस को भ्रम

के समान असत्यवस्तुविषयक नहीं समझते पर सत्यवस्तुविषयक अर्थात् ब्रह्मविषयक समझते हैं इस लिये उस को पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञानाभावरूप कहना पड़ता है। और वेदान्ती उस अज्ञान को भ्रमरूप कहने से जो डरते हैं उस का कारण तो हम बता चुके। और वे उस को जो ज्ञानाभावरूप कहने नहीं चाहते उस का कारण यह है कि तब वह मिथ्या पदार्थ का कल्पक न होगा॥

इन बातों के पढ़ने में पढ़नेवाले को वेदान्तियों के अज्ञान का तत्वज्ञान हो जायेगा और यह भी मालूम होगा कि वे जो अज्ञान को शुद्ध ब्रह्म ही में अर्थात् शुद्ध आत्मा ही में मानते हैं उस का क्या कारण है॥

पर अब वेदान्ती उस अज्ञान को शुद्ध आत्मा में अर्थात् हमारे सत्य स्वरूप में मानके भी हम को नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म ठहराने के लिये जो यह कहते हैं कि वह अज्ञान मिथ्या है उस पर हम कहते हैं कि यहां भी अनेक नामों को लेना छोड़के यही तुम को उत्तर देते हैं कि तुम उस अज्ञान को मिथ्या कहो और जितने मिथ्या के पर्यायशब्द तुम को कोश में मिलें उन सभों से उस को पुकारो तथापि इस मिथ्या अज्ञान के कारण से जो हमारी दशा है सो बुरी है और वह परमात्मा की नहीं

हो सकती। सो यही वेदान्त मत की दशा है कि जिधर जिधर से उस की बातों को विचारो उधर उधर से वे अत्यंत बेठिकाने की देख पड़ती हैं॥

पर वेदान्ती अपने मन में यह समझते हैं कि हम अज्ञान को मिथ्या ठहराके सब शङ्काओं को एक बात में दूर कर सकते हैं। सो उन की समझ में यह एक बड़ा भारी उत्तर है और हम ने इस भाग के प्रथमाध्याय में कहा था कि यही वेदान्त मत का मानों जीव है। इस लिये हम को विशेष करके इस बात को बिचारना चाहिये कि वे किस प्रकार से अज्ञान को मिथ्या ठहराते हैं। कोई विचारवान मनुष्य तो यह समझेगा कि जब वेदान्ती जगत के सत्य करके देख पड़ने में अज्ञान को कारण ठहराते हैं तो अज्ञान को सत्य ही समझते होंगे। क्योंकि यदि अज्ञान न हो तो जगत कहां से देख पड़ेगा। जब कोई भ्रम से रज्जु को सर्प करके देखता है तो वह सर्प असत्य कहलाता है तथापि उस पुरुष को जो भ्रमात्मक ज्ञान हुआ है उस को असत्य नहीं कह सकते वह तो सचमुच हुआ है। पर देखो वेदान्ती अज्ञान को भी असत्य ठहराते हैं। तो देखना चाहिये कि वे उस को किस प्रकार से असत्य ठहराते और उस से कौन सा लाभ प्राप्त करते हैं॥

अब यदि हम वेदान्तियों से पूछें कि तुम अज्ञान को किस प्रकार से मिथ्या ठहराते हो तो हम दो प्रकार का उत्तर पाते हैं । वे लोग जिन्हों ने वेदान्त के बड़े बड़े ग्रन्थ नहीं पढ़े हैं अथवा जिन्हों ने पढ़के भी उन के सब गूढ़तत्वों को नहीं जाना है अथवा जानके भी ध्यान में नहीं रक्खा है वे तो एक प्रकार का उत्तर देते हैं । पर जो वेदान्त के गूढ़तत्वों को जानते हैं वे कुछ और प्रकार का उत्तर देते हैं । और जो उत्तर वे देते हैं वही सचमुच वेदान्त का आशय है और उस का वर्णन हम उत्तराध्याय में करेंगे। पर इन दिनों में बहुधा पहिले प्रकार ही के लोगों से भेंट होती है इस लिये हम इस अध्याय में उन्हीं के उत्तर की परीक्षा संक्षेप में करते हैं॥

ये लोग कहते हैं कि हम अज्ञान को इस लिये मिथ्या कहते हैं कि वह ज्ञान उपजने से नष्ट होता है । और हमारे यहां पारमार्थिक सत्य उसी को कहते हैं जो भूत भविष्य वर्त्तमान तीनों कालों में रहता है । और ऐसा तो ब्रह्म ही है । पर जो कुछ काल लों रहके नष्ट होता है सो पारमार्थिक सत्य नहीं है और जो ऐसा है सो असत्य ही है । इस के उत्तर में हम कहते हैं कि इस प्रकार से अज्ञान को असत्य कहना तो वैसा ही है जैसे भ्रान्त चैतन्य

को नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कहना । क्योंकि असत्य तो वही है जो सर्वथा नहीं है पर जो है और कुछ काल में नष्ट होनेवाला है उस को अनित्य और नश्वर इत्यादि कहना चाहिये परन्तु वह असत्य नहीं है । पर भला यदि तुम कहो कि हमारी बोली में अनित्य ही को असत्य कहते हैं तो हम यहां भी तुम्हें वैसा ही उत्तर देंगे जैसा भ्रांत चैतन्य को शुद्ध कहने में दिया था । कि किसी वस्तु के दोष को इस प्रकार का असत्य ठहराने से तुम उस वस्तु को निर्दोष नहीं कर सकते । क्योंकि हम ने कहा कि किसी पदार्थ के गुण दोष उसी पदार्थ के स्वरूप से ठहरते हैं न कि उस के नामों से । यदि कोई भला आदमी बौड़हा हो जाये तो इस बात को सब लोग अनिष्ट कहते हैं और उस से खिन्न भी होते हैं । पर कोई आके उन लोगों से कहे कि यह बौड़हा नहीं है क्योंकि इस का बौड़हापन सत्य नहीं है । इस लिये कि हम ने ऐसी बोली ठहराई है कि जो जन्म से बौड़हा हो उसी के बौड़हापन को सत्य कहना । यह मनुष्य तो पचीस बरस लों अच्छा रहा इस लिये इस के बौड़हापन का नाम हम ने असत्य ठहराया है । तो कहो ऐसे असत्य का नाम सुन्ने से उन लोगों को क्या शांति मिलेगी । हम जानते हैं कि परमात्मा

सचमुच सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और वह अपने उस स्वभाव से कभी च्युत नहीं हो सकता । और जो कोई शास्त्र यह कहे कि वह कुछ काल लों भ्रांति में अथवा अज्ञान में और दुष्कृतादिकों में रहता है वह शास्त्र सर्वथा असत और हेय है । वह परमात्मनिन्दक शास्त्र है । और इस से अधिक कोई असत शास्त्र का लक्षण नहीं हो सकता । यद्यपि हम ने पूर्वाध्यायों में दिखाया है कि जिस प्रकार का वर्णन वेदान्ती अपने ब्रह्म का करते हैं उस प्रकार का वर्णन सचमुच परमात्मा का वर्णन नहीं ठहर सकता । तथापि वे तो अपनी समझ में परमात्मा ही का अर्थात् उस सर्वोत्तम और परात्पर वस्तु ही का वर्णन करते हैं और जिस का ऐसा वर्णन करते उस को परमात्मा भी कहते हैं । इस लिये यह समझना चाहिये कि उस वर्णन में जो जो अयोग्य बातें कहते हैं सो परमात्मा ही की निन्दा है । अब वेदान्ती कहते हैं कि हम वही परमात्मा हैं और हम एक क्षण दो क्षण नहीं एक साल दो साल भी नहीं वरन अनादिकाल से अज्ञानी मलिन और पापी हो रहे हैं । तो इस से अधिक परमात्मा की निन्दा क्या हो सकती है । उन्हों ने उस अज्ञान का नाम मिथ्या रक्खा है क्योंकि वे समझते हैं कि आगे कभी

वह नाश होनेवाला है। पर क्या उन के ऐसे नाम रखने से वह दोष दूर हो सकता है। आगे कभी जीव के अज्ञान के नाश होने से वह ज्ञानी और शुद्ध बन जाये तो बन जाये पर अभी तो वह भ्रान्त अज्ञानी मलिन और पापी है और यह बात परमात्मा के स्वभाव से विरुद्ध है और इसी लिये वेदान्त शास्त्र झूठा है। सो इन सब बातों का सारांश यह है कि तुम सत्य वस्तु ही का नाम मिथ्या रखते हो यह बड़ा अनुचित करते हो और ऐसा करने से भी उस महा दोष का निवारण नहीं हो सकता॥

पर सच बात यह है कि ये लोग जो अज्ञान की असत्यता का इस प्रकार से वर्णन करते हैं उन के मन में कुछ और ही बात रहती है वे अपने मन में केवल यह नहीं समझते कि अज्ञान नाश होनेवाला है इसी लिये असत्य है। क्योंकि वे जानते हैं कि इतने से ब्रह्म का दोष नहीं दूर हो सकता। इस लिये उन के मन का भीतर से यही बोध रहता है कि अज्ञान सचमुच कुछ नहीं है। पर उन को इतना सामर्थ्य नहीं है कि इस का स्पष्ट रीति से उपपादन करें। वरन उन को इतना भी सामर्थ्य नहीं कि जो अर्थ उन्हीं के मन में छिपा हुआ है उस को आप भी जानें। और इस में यह बड़ा चमत्कार

होता है । वेदान्त तो ऐसा महा जाल है कि जो उस में फंसता है उस को यह चेत नहीं रहता कि मैं आप कहां हूं और क्या बोल रहा हूं । सो जब वेदान्तियों को पूछो कि अज्ञान को तुम मिथ्या कैसे ठहराते हो तो क्या होता है कि जब वे जीव की बात मन में ले आते तो उन को अज्ञान का मिथ्यात्व वैसा ही देख पड़ता है जैसा ऊपर वर्णन किया गया। पर जब उन को पूछा जाये कि जीव को तुम ब्रह्म ही कहते हो तब उस में कैसे अज्ञान आवेगा। और यदि तुम मिथ्या का अर्थ यही समझते हो कि नाश होनेवाला है तो जब नाश होगा तब होगा तथापि जब तक नाश नहीं हुआ तब तक तो वह है पर तुम तब तक भी ब्रह्म में अज्ञान किस प्रकार से मान सकते हो । सो जब कोई उन को ऐसा प्रश्न करे और जब इस प्रकार से उन के मन को ब्रह्म की ओर ले जावे तब उन को अज्ञान की असत्यता और ही प्रकार की देख पड़ने लगती है। अर्थात् तब वे अज्ञान को सचमुच झूठा मान्ने लगते हैं । देखो ऐसी इन विचारों की दशा हो गई। वस्तु के तत्व को जैसा कि वह है जान्ने की दृष्टि उन की अत्यन्त मन्द हो गई । वे वस्तु के स्वरूप के समान वस्तु को नहीं देखते पर केवल अपने मत के मारे

मारे इधर उधर फिरते हैं। जीव को उन के यहां अज्ञानी कहा है इस लिये जब लों जीव की बात उन के मन में है तब लों अज्ञान की असत्यता केवल उन को अनित्यतारूप ही देख पड़ती है। फिर उन के यहां ब्रह्म को नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कहा है इस लिये जब ब्रह्म की ओर उन की दृष्टि जाती है तब वह अज्ञान उन को सचमुच असत्य ही देख पड़ता है कि वह न कभी था न है न होगा। जो कोई वेदान्तियों के बीच घूमके उन से चर्चा करेगा उस को नित्य नित्य यह चमत्कार देख पड़ेगा। निज करके हम ने एक अच्छे वेदान्ति से थोड़े दिनों के उधर वार्त्ता किई थी जो बड़ा बुद्धिमान और बहुत से वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ा हुआ और सदा उन के पठन पाठन में रहता है। और उस की भी यही दशा देखी तो बड़ा आश्चर्य्य हुआ। सो ऐसे लोगों की तो यह दशा है। पर अब वे लोग जो वेदान्त शास्त्र में पारंगत हैं और उस के सब गूढ़तत्व जिन की स्मृतिरूपी मंजूषा में सदा सिद्ध रहते हैं वे इस विषय में दूसरे प्रकार का उत्तर देते हैं और उस का वर्णन हम आनेवाले अध्याय में करते हैं॥

८ आठवां अध्याय ।

जिस में वेदान्तियों का अज्ञान की असत्यता के विषय में जो ठीक मत है उस की परीक्षा है ॥

सो अब वे लोग जो वेदान्त शास्त्र के तत्व को अच्छी रीति से जानते हैं यह कहते हैं कि वह अज्ञान भी अज्ञानकल्पित है इस लिये सत्य पदार्थ नहीं है। यदि कोई पूछे कि वह किस अज्ञान से कल्पित है। तो वे कहते हैं कि वह आपही से कल्पित है। जैसा कि संक्षेपशारीरक में लिखा है

अज्ञानमप्यविदुषोऽस्य न तु स्वतोऽस्ति
चैतन्यनिर्विकृतताद्वयताविरोधात् ।
अज्ञाततात्यनवबोधनिबन्धनैव
नात्माश्रयत्वमपि चोदयितव्यमत्र ॥
आत्मा प्रमाश्रयति वेद्यपदार्थजातम्
स्यात्मानमप्यवगतिक्रमशक्तियोगात् ।
स्याज्ज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रकाशी
शक्तं भवेदिति न किञ्चन दौस्थ्यमस्ति ॥

इन श्लोकों का तात्पर्य यह है। यह अज्ञानी जो जीव है उस का अज्ञान भी उस में आप से नहीं है क्योंकि यह बात उस के चेतन निर्विकार और अद्वयस्वभाव के विरुद्ध है। इस लिये यह समझना चाहिये कि उसकी जो अज्ञातता अर्थात् न जाना-

जाना है सो भी अज्ञानही के कारण से है। और इस बात को सुनके कोई यहां आत्माश्रय की शङ्का भी न करे। क्योंकि जैसे आत्मा अपनी जान्ने के योग्य-शक्ति के प्रभावसे समस्त (बाहर के) ज्ञेयपदार्थों को भी सिद्ध करता और अपनेको भी सिद्ध करता है वैसे ही अज्ञान भी अपनी और अन्य सब (जगत के) पदार्थों की भी कल्पना कर सकेगा। सो इस प्रकार से विचार करने से स्पष्ट होता है कि इस बात में कहीं कुछ कठिनता नहीं है। यही इन श्लोकों का तात्पर्य है। देखो इस विषय में वेदान्तियों ने ऐसी एक असंभव बातके स्थापित करने के लिये कमर बांधी है कि जिस के लिये परिश्रम करने में उन को व्याकुल होने मोहित होने और पग पग पर भूल में पड़ने के सिवाय और क्या लाभ हो सकता है। देखो यहां अज्ञान के आपही अपनी कल्पना करने की बात पर संक्षेपशारीरककर्त्ता यह दृष्टांत ले आता है कि आत्मा दूसरे विषयों की और अपनी भी अपने ज्ञान से सिद्ध करता है। पर इस दृष्टांत में और दार्ष्टान्त में कौन समानता है। केवल शब्दों के जाल में फंसके अर्थाभास से मोहित होने के लिये यह दृष्टान्त तो अच्छा है। संक्षेपशारीरककार कहता है कि आत्मा अपने ज्ञान से दूसरे पदार्थों

को और अपने को सिद्ध करता है। पर यह सिद्ध करना क्या उन की कल्पना करना है। नहीं नहीं वे पदार्थ तो पहिलेही से सचमुच विद्यमान हैं और आत्मा न उन की कल्पना करता न उन को बनाता है। इस लिये यहां सिद्ध करना इस शब्द का अर्थ केवल ज्ञान से उन को प्रमित करना अर्थात उन के होने के विषय में निश्चय प्राप्त करना है। पर क्या अज्ञान के विषय में भी यही अर्थ लगाते हो कि अज्ञान आप अपने को सिद्ध करता है अर्थात वह सचमुच विद्यमान रहके केवल आप अपने को प्रमित करता है। तब तो अज्ञान सत्य पदार्थही ठहरा। तब इन सब बातों को कहके ग्रंथकार को कौन सी बात सिद्ध करना है और अज्ञान आप अपना प्रमित करनेवाला है इस बात के कहने का यहां कौन सा प्रसंग रहा। और तब तो "चैतन्य-निर्विकृततादूयता के" साथ विरोध ज्योंका त्यों रहा। पर जिस को वेदान्त के मत से अच्छा परिचय है उस को मालूम है कि जब वेदान्ती अज्ञान के विषय में ऐसी बातें कहते हैं तो उन का तात्पर्य यही रहता है कि अज्ञान को भी शुक्तिरजत के समान असत्य ठहराके जीव के नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होने में कुछ हानि न पहुंचने दें॥

यदि कोई मनुष्य वेदान्त के ग्रन्थों और वेदान्तियों के आशय को न समझता हो और इन श्लोकों की ऐसी अत्यन्त बेठिकाने की बात को देखके अपने मन में यह सोचता हो कि ऐसे बड़े पण्डित ऐसी अत्यन्त बेठिकाने की बात न कहेंगे और यह सोचके यदि उस का मन उन श्लोकों का और प्रकार का अर्थ लगाने चाहता हो तो ऐसे मनुष्य के सन्देह को दूर करने के लिये अग्निचित्पुरुषोत्तममिश्रनामें संक्षेपशारीरक के टीकाकार के जो वचन उन श्लोकों पर हैं उन्हें लिखते हैं। टीकाकार यह कहता है

ननुअनादिभावरूपस्याज्ञानस्य ब्रह्मण इव निवर्त्तनासम्भवात् कुतस्तन्निवृत्तिरूपा मुक्तिः फलमित्याशङ्क्य तस्य मिथ्यात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं साधयति अज्ञानमपीति। तथा हि अज्ञस्य स्यात्मन्यज्ञानान्वयः किं स्वाभाविकः कल्पितो वा नाद्य इत्याह न स्विति। कुत इत्याह चैतन्येति। स्वभावत आत्मन्यज्ञानमस्ति चेद्वस्तुभूतं स्यात् न च स्वप्रकाशचिदात्मके वस्तुनि वस्तुतोऽज्ञानं वर्त्तितुमर्हति प्रकाशतमसोर्विरोधात्। तथाऽज्ञानमात्मधर्मश्चेत्तर्हि स्वयं विनश्यदात्मानं विकुर्य्यात् 'उपयन्नपयन्धर्म्मो विकरोति हि धर्म्मिणम्' इति न्यायात्। तथाऽज्ञानस्य वस्तुत्वे द्वैतापत्तिरिति चित्त्वनिर्विकारत्वाद्वयत्वश्रुतिविरोध इत्यर्थः। द्वितीयमङ्गीकरोति अज्ञाततापीति। अपि त्वर्थः। तथा त्वेहि मध्यं दिना लोकमण्डले कौशिकादिकल्पितान्धकारवत् अविरोधः स्यादिति भावः॥

देखो टीकाकार के इन वचनों से कैसे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकर्त्ता का तात्पर्य्य अज्ञान को सर्वथा असत्य ठहराने ही पर है । और यह बात टीका-कार के घूघू के दृष्टान्त से अधिक प्रगट होती है । कि जैसे दो पहर के समय अंधकार का लेश भी नहीं रहता पर घूघू अपने अज्ञान से दो पहर के प्रकाश पर अंधकार की कल्पना करता है वैसे ही सचमुच अज्ञान कुछ नहीं है तथापि वह आप अपनी झूठमूठ कल्पना कर लेता है ॥

सो हम पूछते हैं कि अज्ञान के आप अपनी कल्पना कर लेने में और आत्मा के अपने और दूसरे पदार्थों के सिद्ध करने में कौन समानता है । पर देखो यहां ग्रन्थकर्त्ता ने जो "प्रसाधयति" अर्थात् सिद्धकर्त्ता है इस शब्द का प्रयोग किया है वह शब्द थोड़ा सा व्यामोहक है । क्योंकि यद्यपि यहां उस का अर्थ केवल प्रमित करना है तथापि उस शब्द से ऐसा भी कुछ भास होता है कि मानों उस का अर्थ बनाना है । फिर बनाने और कल्पना करने में भी थोड़ा ही अन्तर मालूम होता है । सो इस रीति से ग्रन्थकर्त्ता शब्दों से मोहित होके समझने लगा कि अज्ञान के आप अपनी कल्पना कर लेने की बात के लिये यह दृष्टान्त ठीक होगा । और इस

प्रकार से आप भ्रम में पड़के दूसरों को भी भ्रम में गिराया ॥

फिर जैसे इस बात में यह दृष्टान्त विषम है वैसे ही दूसरी बात में तो उस से भी अधिक विषम है। क्योंकि आत्मा तो है इस लिये अपनी और दूसरे पदार्थों की सिद्धि कर सकता है पर अज्ञान यदि कुछ नहीं है तो वह कहां से अपनी अथवा किसी दूसरे की कल्पना कर सकेगा । देखो ऐसी ऐसी अत्यन्त वेठिकाने की बातों को कि जिन का कुछ वर्णन नहीं हो सकता वेदान्ती मानते हैं । और तथापि कुछ शङ्कित भी नहीं होते वरन उन से सन्तुष्ट रहते हैं। जैसे कि संक्षेपशारीरक का टीकाकार उन्हीं श्लोकों की टीका में कहता है

अत्रानिर्वचनीयवादेनानुपपत्तिर्दूषणम् ।

कि इस अनिर्वचनीयवाद में अनुपपत्तिदूषण नहीं है । पर हम पण्डितों से विन्ती करके कहते हैं कि भाइयो जव तुम ऐसी ऐसी बातों को मानते हो तो सद्विचार की सीमाका सर्वथा उल्लङ्घन करते हो । क्योंकि जैसा हम इस ग्रन्थ में दिखा चुके हैं कि यह तो हो सकता है कि परमेश्वर की और परमार्थ-संवन्धी और और बातों में बहुतसी बातें ऐसी हों कि जिन को हमारी वुद्धि कुछ भी समझ न सके

वरन उन के विचारने में सर्वथा घवड़ा जाये और तथापि यदि ऐसी बातों के लिये प्रवल प्रमाण हो तो उन को हमें मान्ना आवश्यक है। पर जिन बातों की असत्यता हम को ऐसी प्रगट देख पड़ती है जैसे निरभ्रदिन के दो पहर का सूर्य तथापि यदि उन को हम मानें तो फिर किस को न मानें। तव इस वात को भी क्यों न मानें कि ब्रह्म भी कुछ नहीं है और जीव भी कुछ नहीं है। तव किस वात को मानें और किस वात को न मानें। क्योंकि मान्य और अमान्य में भेद करनेवाला विचार ही है पर अव तो विचार को दशो दिशा में कहीं अपना अंगूठा भी धरने को जगह न रही॥

यह जान्ना चाहिये कि जो वात यहां संक्षेपशारीरक में लिखी हैं वैसी ही बातें सिद्धान्तलेशादिक ग्रन्थों में भी देख पड़ेंगी। क्योंकि वेदान्तियों के मत का जीव इन्हीं बातों में है। इस लिये यह प्रगट है कि वेदान्तियों के मत से जैसे जगत कुछ नहीं है पर केवल अज्ञानकल्पित है अर्थात् केवल अज्ञान से है करके देख पड़ता है उसी प्रकार से अज्ञान भी अज्ञानकल्पित है अर्थात् वह भी कुछ नहीं है केवल अज्ञान से भासता है। और इस अज्ञान के असत्य ठहराने के विषय में जिन लोगों की चर्चा हम ने

पूर्वाध्याय में किई थी वे लोग यद्यपि इस विषय में ठीक उत्तर देने में चूक करते हैं तथापि उन का भी अभिप्राय भीतर से यही रहता है केवल उन को बोलने नहीं आता। क्योंकि जो लोग किसी पदार्थ को मिथ्या कहते हैं वे यद्यपि मिथ्याशब्द का यह अर्थ बतावें कि वह सदा नहीं रहता तथापि उतने से उस पदार्थ का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता। पर किसी पदार्थ का सचमुच मिथ्यात्व ठहराने के लिये यही कहना चाहिये कि वह पदार्थ कुछ है ही नहीं न कभी था न है न होगा पर केवल अज्ञान से भासता है। सो उन पहिले प्रकार के उत्तर देनेवालों के मन के भीतर अज्ञान की भी इसी प्रकार की असत्यता का निश्चय छिपा रहता है। क्योंकि हम कह चुके कि जब उन का मन उन के नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव निर्विकार ब्रह्म की ओर जाता है तब वे अज्ञान के विषय में ऐसा ही कहते हैं कि वह सचमुच न कभी था न है न होगा॥

पर यदि हम वेदान्तियों से कहें कि भाई यह तुम कैसी वर्णनातीत और अति आश्चर्यजनक भूल करते हो जो कहते हो कि अज्ञान भी अज्ञानकल्पित है। क्योंकि यदि अज्ञान को असत्य ठहराने के लिये तुम उस को अज्ञानकल्पित कहते हो तो यह क्यों

नहीं सोचते कि यदि वह कुछ हैही नहीं तो कैसे अपनी अथवा जगत की कल्पना कर सकेगा तब यह मिथ्या जगत का देखना क्या है श्रार कहां से है। तो उन के पास यह उत्तर सिद्ध है कि हमारा यह कहना नहीं है कि अज्ञान सर्वथा कुछ नहीं है। यदि कोई पूछे कि भला वह कैसा है। तो वे कहते हैं कि वह अज्ञानकल्पित है। पर फिर यदि उनसे कोई कहे कि भाई जो अज्ञानकल्पित है सो तो कुछ हैही नहीं श्रार यदि उस को कुछ है करके माने तो फिर तुम्हारा यह सब परिश्रम व्यर्थ होगा क्योंकि तब तो आत्मा की नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावता भग्न होगी। तो वे कहते हैं कि नहीं नहीं उस के अज्ञानकल्पित होने से केवल परमार्थदशा में उस की असत्यता प्रगट होती है पर सर्वथा असत्यता नहीं सिद्ध होती। क्योंकि हमारा अज्ञान अज्ञानकल्पित है इस लिये हम उस को प्रातिभासिक मानते हैं श्रार जो पदार्थ प्रातिभासिक है सो सर्वथा नहीं ऐसा नहीं पर उस में हम प्रातिभासिकसत्ता मानते हैं। क्योंकि हमारे यहां तीन प्रकार की सत्ता है। श्रार जो सर्वथा कुछ नहीं है उस को हम तुच्छ कहते हैं जैसे वंध्यापुत्र। श्रार यदि हम अज्ञान को पारमार्थिक-सत्य कहते तभी हमारे आत्मा की नित्यशुद्ध बुद्ध

मुक्त स्वभावता में विरोध आता । सो देखो इस विषय में भी उन की वही दशा होती है जिस का वर्णन पूर्वाध्याय में हुआ । एक ओर से तो वे अज्ञान को सर्वथा नहीं है ऐसाही समझते हैं क्योंकि ऐसा न समझें तो ब्रह्म की नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावता नष्ट होगी और इसी बातके सिद्ध करने के लिये उस को अज्ञानकल्पित कहते हैं। पर फिर ज्योंही उस अज्ञान को प्रातिभासिक ऐसा नाम उन्हों ने दिया त्योंही उन को उस में थोड़ीसी सत्ता देख पड़ने लगती है और वे समझते हैं कि इतनी सत्ता उस को आप अपनी कल्पना करने के लिये बस है। और उन की ऐसी दशा भई है कि उन को झूठ और सच में भेद दिखाने के लिये उन के पास "सचमुच" इस शब्द का प्रयोग करना भी व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि "सचमुच" इस शब्द को भी उन्हों ने झूट में परिगणित कर लिया है। क्योंकि यदि उन को पूछें कि जिस को तुम प्रातिभासिकदशा में है कहते हो क्या उस को सचमुच है करके समझते हो क्योंकि यदि वह सचमुच न हो तो कहां से कुछ कर सकेगा। तो वे कहते हैं कि हां उस को प्रातिभासिकदशा में सचमुच है करके समझते हैं। सो ऐसे लोगों को किस प्रकार से समझावें। कौन से शब्द लावें जिन

से वे हमारा अभिप्राय समझ सकें और हम उन को दिखा सकें कि क्या सच है और क्या झूठ है अर्थात क्या है और क्या नहीं है। केवल एक उपाय हम को देख पड़ता है कि उन का पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक ऐसी तीन प्रकार की सत्ता का जो मत है उस को थोड़ासा विचारना और उन को दिखाना कि वे इस बात में कैसी भूल करते हैं॥

पर उन के इस तीन प्रकार की सत्ता के मत को विचारने के पहिले हम यह भी दिखाने चाहते हैं कि जैसी भूल में वे अज्ञान के विषय में पड़ते हैं कि उस को अज्ञानकल्पित कहके असत्य ठहराने चाहते हैं और फिर जहां उन्हों ने उस का नाम प्रातिभासिक रखा तो उन को उस नाम के कारण से वह सत्यसा दिखाने लगता है वैसीही भूल में वे और भी कई एक पदार्थों के विषय में पड़ते हैं कि उन को अज्ञानकल्पित और असत्य ठहराके व्यावहारिक और प्रातिभासिक कहते हैं तथापि वे पदार्थ उन के मन में सत्यसे मालूम पड़ते हैं। सो इसी बात को हम उत्तराध्याय में दिखावेंगे और उस के अनन्तर दसवें अध्याय में उन के तीन प्रकार की सत्ता के मत का विचार आप लोगों के देखने में आवेगा॥

समझना चाहिये कि यह उन का भ्रम है पर सच-मुच न ईश्वर है न उस की आराधना है न फल पाना है। जैसे कोई स्वप्न में देखता है कि मैं ने एक राजा की सेवा किई और उस से धन पाया पर यह सब कुछ मान्नाही भर है सचमुच न कहीं राजा है न सेवा है न धन पाना है। सो चाहिये तो कि वेदान्ति भी ईश्वर और उस की आराधना आदि के विषय में ऐसा समझें। और यद्यपि वे अज्ञानियों के बहलाने के लिये उन की समझ के समान उन को कहें भी कि तुम ईश्वर को भजो तथापि अपने मन में यह समझें कि यह सब झूठा है। पर सच बात यह है कि वेदान्ति अपने मन में ऐसा नहीं समझते। कोई परदेशी मनुष्य वे-दान्तियों की बातों से भुलाया जाकर हमारे कहने को न समझे तो न समझे पर जो कोई वेदान्तियों के हृदय को जानता है उस को मालूम है कि वे-दान्ति के मन के भीतर यह निश्चय बना रहता है कि एक सचमुच सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान जगत्कर्त्ता ईश्वर है। वे तो अपनेही मन के निश्चय के स्वरूप को आपही अच्छे प्रकार से नहीं जानते और न उन को यह मालूम है कि हम उस निश्चय के विषय में क्या कहें और किस प्रकार से उस का वर्णन करें।

इस लिये वेदान्तियों के जिस प्रकार के ईश्वरविषयक निश्चय की बात हम ने कही यदि वह वेदान्तियों के सामने कही जाये और यदि वे उस में के सब शब्दों के ठीक अर्थ को समझें तो वे हमारी बात को न मानेंगे। पर जो सचमुच उन के हृदय में रहनेवाला निश्चय है उस को हम ने कहा। ईश्वर की सत्ता उन के मन में पारमार्थिकहीसी मालूम होती है तथापि वे इस बात को न जानके उस सत्ता की गणना उस प्रकार की सत्ता में करते हैं जिस का नाम उन्हों ने व्यावहारिक रक्खा है और जिस को सत्य समझना यद्यपि अयोग्य है तथापि वे भूल से सत्य समझते हैं और इस प्रकार से वे अपने हृदय में ईश्वरसत्ता के सत्य भासने के विरोध को अपनी समझ में दूर करते हैं॥

वेदान्तियों में दो प्रकार के वेदान्ती हैं। एक तो ऐसे हैं जिन का मन ईश्वर की भक्ति की ओर नहीं लगता। और दूसरे प्रकार के लोग ईश्वरभक्ति में अत्यन्त लौलीन रहते हैं। पर निश्चय करके जानो कि जो वेदान्ती ईश्वरभक्ति की ओर मन नहीं लगाते उन के मन में भी यह निश्चय बना रहता है कि ईश्वर सचमुच है। और जो उन में भक्ति-मार्गी हैं वे तो ईश्वर को सचमुच सत्य मानतेही

हैं और अपनी समझ के अनुसार उस की भक्ति भी सच्चे विश्वास और सच्चे मन और बड़े प्रेम से करते हैं। सच्चे ईश्वर को और उस के यथार्थ गु-णों को तो वे नहीं जानते क्योंकि उस का ज्ञान उसी के सत्य शास्त्र के विना नहीं प्राप्त हो सकता। पर जिन राम कृष्णादिकों को उन के पुराणादिकों में ईश्वर करके कहा है उन की वे बड़ी भक्ति करते हैं। संक्षेपशारीरककर्त्ता सर्वज्ञात्म मुनि और अद्वैत सिद्धि के कर्त्ता मधुसूदन सरस्वती आदिक लोग जो वेदान्त मत के महावीर हो गये हैं सो विष्णु के बड़े भक्त थे। और ऐसे हजारों लोग अब भी हैं॥

वेदान्तियों के विषय में एक और भूल आज काल के लोग करते हैं उस के दूर करने के लिये यहां हम प्रसङ्ग पाके एक और बात कहते हैं। इन दिनों में लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य जो वेदान्त मत का बड़ा आचार्य था सो शैव था। पर हमारी समझ में यह भूल है। शङ्कराचार्य के सूत्रभाष्यादिक असंदिग्धग्रन्थों में जहां तहां विष्णुही का अधिक माहात्म्य देख पड़ता है। और उस ने अपने शिष्यों को केवल हरिः नारायण कहके एक दूसरे को प्रणाम करने और एक दूसरे से प्रणाम लेने की जो रीति स्थापित किई है उस से भी

शङ्कराचार्य का मन विष्णुभक्तिही की ओर प्रबल देख पड़ता है। सो हमारी समझ में इन दिनों में जो कितने उस के मन्यवाले उस के शैव करके समझते हैं और निज करके गोसांईं लोग शङ्कराचार्य के शैव समझके शिव का पक्ष करते हैं और वैष्णवों से विरोध भी रखते हैं इस में उन की बड़ी भूल है। और कदाचित ऐसोंही के मुंह से सुनके कोई कोई यूरोप के पण्डितों ने भी भूलसे शङ्कराचार्य के शैव कहा है। पर अब हम इस प्रासङ्गिक बात के छोड़के प्रकृत बात के कहें॥

जैसे वेदान्तियों के ईश्वरविषयक विश्वास के देखने से यह बात प्रगट होती है कि वे शब्दों से मोहित होके व्यावहारिक सत्ता के एक प्रकार की सच्ची सत्ताही समझने लगते हैं वैसेही और कितने पदार्थों के विषय में भी जो उन की समझ है उन के देखने से वह बात प्रगट होती है। हमारी समझ में इस दृश्य जगत के विषय में भी उन की ऐसीही गड़बड़ की समझ है। कि यद्यपि वे जगत के सर्वथा झूठाही ठहराने के लिये उस के व्यावहारिक कहते हैं तथापि उन के उस व्यावहारिक जगत में भी एक सच्ची सत्ता देख पड़ती है। और वैसाही वे लोग अपनी समझ की दुर्बलता के कारण से अज्ञान के अर्थात माया के

सांख्य की प्रकृति के समान जड़द्रव्यरूप समझके उस को जगत का उपादानकारण मानते हैं ॥

वैसेही वेद और उपनिषदादिकों के विषय में जिन से वे ज्ञान पाते हैं उन की गड़बड़ की समझ है। यद्यपि उपनिषदों को झूठा कहने में जो उन पर शङ्का आती हैं उन के दूर करने के लिये वे औरही प्रकार की युक्ति ले आते हैं तथापि उन के सत्य होने के विषय में उन के मन की जो सचमुच समझ है उस को हम कहते हैं कि वह वैसीही है जैसी उन की समझ ईश्वर के और दृश्य जगत के विषय में है ॥

अब जैसी उन की दशा व्यावहारिक सत्ता के विषय में है तैसीही प्रातिभासिक सत्ता के भी विषय में है। उन का अज्ञान के विषय में जो मत है उस को तो आप लोग देख चुके कि वे उस अज्ञान को असत्य ठहराने के लिये आंख मूंदके स्वकल्पित कहते हैं। और फिर उस को प्रातिभासिक कहके सत्य भी समझते हैं यहां लों कि वह उन की दृष्टि में आप अपनी कल्पना करने के लिये समर्थ होता है। पर वे न केवल ऐसी बात अज्ञान के विषय में कहते हैं बरन शुक्तिरजतादि सब प्रातिभासिक पदार्थों को एक प्रकार के सत्यपदार्थही समझते हैं।

और कोई यह न समझे कि वे प्रातिभासिक पदार्थ को ज्ञानरूप समझके सत्य कहते होंगे । क्योंकि वे लोग जैसे व्यावहारिक पदार्थ को तैसे प्रातिभासिक को भी उस के ग्रहण करनेवाले ज्ञान से भिन्न और अविद्या का परिणाम करके समझते हैं ॥

और इस विषय में वे लोग नैयायिकादिकों से बड़ा बड़ा झगड़ा करते हैं । न्याय आदि मतों में भ्रम के स्थल में कितने तो अन्यथा ख्याति मानते हैं और कितने असत ख्याति मानते हैं । अन्यथा ख्यातिवाले कहते हैं कि जब भ्रान्त पुरुष शुक्ति के विषय में यह कहता है कि यह रजत है तो वह अन्य पदार्थ के धर्म को अन्य पदार्थ में देखता है अर्थात् रजत के रजतत्वरूपी धर्म को शुक्ति में मानता है । जो असत ख्यातिवाले हैं सो यह कहते हैं कि जो पदार्थ नहीं है सोही है करके जान पड़ता है जैसे रजतत्व जो शुक्ति में नहीं है सो है करके मालूम होता है । पर वेदान्ती इन दोनों बातों को काटके यह कहते हैं कि नहीं वहां सचमुच प्रातिभासिक रजत रहता है । और इस बात के सिद्ध करने के लिये कई एक युक्ति ले आते हैं । और उन में से यह एक युक्ति है । वे कहते हैं कि जब मनुष्य को शुक्तिपर रजत का भ्रम होता है तो वह प्रत्यक्षा-

त्मक भ्रम कहलाता है। परन्तु प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय का विषय के साथ संवन्ध भये विना नहीं हो सकता। और यदि विषय न रहे तो विषय के साथ संवन्ध कैसे होगा । इस लिये रजतविषयक जो प्रत्यक्षात्मक भ्रम है उस के विषयभूत रजत का होना मान्ना चाहिये । पर वह रजत पारमार्थिक तो नहीं न व्यावहारिक है इस लिये उस को प्रातिभासिक कहते हैं ॥

यदि कोई पूछे कि इस प्रकार से वेदान्ती लोग वंध्यापुत्र की सत्ता को भी एक प्रकार की सच्ची सत्ता क्यों नहीं कहते तो इस का उत्तर यह है कि यदि वे सव असत पदार्थों को सत्यही ठहरावें तो सच्चा और निरा असत्य कहां रहेगा । इस लिये उन्हों ने सच्चे असत्य का उदाहरण देने के लिये वंध्यापुत्र को रख छोड़ा है और उस का नाम तुच्छ रक्खा है। और ऐसाही वे करते हैं। क्योंकि जब वे माया के सदसद्विलक्षणत्व को स्थापित करने चाहते हैं तव कहते हैं कि न वह ब्रह्म के समान पारमार्थिक सत्य है और न वंध्यापुत्र के समान सर्वथा असत्य और तुच्छ है इस लिये वह सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक है ॥

सो देखो सत्ता के विषय में ऐसी ऐसी भूल

वेदान्ती करते हैं इस लिये उन की तीन प्रकार की सत्ता का विचार करना और उन की भूल उन को दिखाना अति आवश्यक है ॥

---

१० दसवां अध्याय ।

जिस में वेदान्तियों के तीन प्रकार की सत्ता के मत की परीक्षा है और अन्त को यह दिखाया है कि यही सत्य सिद्धान्त है कि अज्ञान असत्य पदार्थ नहीं हो सकता और इस लिये अज्ञानी जीव परमात्मा नहीं हो सकता ॥

अब हम वेदान्तियों के तीन प्रकार की सत्ता के मत का विचार करने में वेदान्ति से पहिले यह कहते हैं कि भाई इस बात के विचार में जब लों तुम अपनी दृष्टि को चारों ओर से समेट न लेओगे तब लों इस विषय में क्या सत् है और क्या असत् है इस का निर्णय न होगा। इस लिये थोड़ासा अपने मन को स्थिर करके और अपनी दृष्टि को भीतर करके और घड़ी भरके लिये वेदान्त की वासना को दबाके विचारो और देखो कि जिस बात को हम कहते हैं उस के विषय में तुम्हारे मन का ठीक ठीक अनुभव कैसा है ॥

जब तुम को किसी पदार्थ के विषय में यह निश्चय

होता है कि अमुक पदार्थ सचमुच है तो यही तुम्हारा उस पदार्थ की सच्ची सत्ता अर्थात् सचमुच होने का अनुभव है। पर हम तुम से पूछते हैं कि जैसे तुम को किसी पदार्थ के विषय में यह अनुभव होता है कि अमुक पदार्थ है क्या वैसाही तुम को इस बात का भी स्मरण होता है कि जब मुझ को अमुक पदार्थ है ऐसा निश्चय हुआ था तब उस का होना मुझ को एक प्रकार का मालूम पड़ा था और जब दूसरा एक पदार्थ है करके मालूम हुआ था तब उस का होना औरही प्रकार का मालूम पड़ा था। क्या जब जब तुम को कोई पदार्थ है ऐसा निश्चय होता है तब तब उस का एकही प्रकार का होना नहीं देख पड़ता। जिस जिस पदार्थ को तुम है करके जानते हो उस के विषय में केवल है ऐसाही कहोगे और इस से अधिक क्या कहोगे। पर अब रहा इस के बिरुद्ध वह जो नहीं है। और जो नहीं है उस के विषय में भी नहीं है कहने से अधिक कुछ नहीं कह सकोगे। सो इस से यह सिद्ध हुआ कि जो है सो है और जो नहीं सो सर्वथा नहीं है और कोई तीसरी दशा इस से अधिक अथवा न्यून नहीं हो सकती। तब तुम कहां से अनेक प्रकार की सत्ता ठहराते हो॥

पर अब देखो वेदान्ति के मन में उन की वेदान्त

की वासना उभड़ आती है और वह कहता है कि हां हम को और भी कई प्रकार की सत्ता का अनुभव होता है। क्योंकि जब हम को रज्जु पर सर्प का भ्रम होता है तब हम को प्रातिभासिक सत्ता का अनुभव होता है क्योंकि वह सर्प प्रातिभासिक है। पर हम ऐसे को पूछते हैं कि जब तुम को रज्जु पर सर्प का भ्रम होता है तब क्या तुम को उस सर्प की सत्ता घट पटादि की सत्ता से और प्रकार की मालूम पड़ती है। क्या जैसे तुम को घट पटादि पदार्थ हैं करके मालूम देते हैं वैसाही वह सर्प भी है करके नहीं मालूम देता। तब वह बात कहां सिद्ध हुई कि रज्जु सर्प के भ्रम में तुम को और प्रकार की सत्ता का अनुभव होता है। पर तुम कहोगे कि हम तो भ्रम के कारण से उस को घट पटादि के समान है करके समझते हैं पर जो लोग जानते हैं कि यह रज्जु है वे उस सर्प को जिसे हम देख रहे हैं प्रातिभासिक कहते हैं इस लिये उन की समझ में हमारा जो अनुभव है सो प्रातिभासिक सत्ताविषयक अनुभव है। तो हम कहते हैं कि भला उन की समझ में जो हो सो हो परन्तु तुम्हारी समझ में तो वैसा नहीं है। तुम को तो उसी एक प्रकार की सत्ता का अनुभव होता है जिस का सदा होता आया है। पर अब देखेंगे

कि उन लोगों का इस विषय में क्या अनुभव है । क्या उन को वहां किसी प्रकार का सर्प देख पड़ता है । नहीं वे तो जानते हैं कि वहां सर्प हैही नहीं। तो देखो न तो भ्रान्त को न अभ्रान्त को प्रातिभासिक सत्ता का कुछ अनुभव है तव तुम यह सत्ता कहां से ले आते हो । पर तुम कहोगे कि ऐसेपदार्थ को हमें प्रातिभासिक कहना आवश्यक होता है । नहीं तो ऐसे विषय का क्या नाम रक्खेंगे जो नहीं है पर देख पड़ता है जैसे रज्जु सर्प । तो हम कहते हैं कि जिस का जन्मही नहीं हुआ उस का नाम रखने की चिन्ता करना व्यर्थ है । जो विषय नहीं है पर केवल भ्रम से है करके भासता है सो सर्वथा हैही नहीं उस का नाम क्योंकर रख सकेंगे ॥

पर वेदान्ती कहते हैं कि रज्जु को देखने से जब सर्प का भ्रम होता है तो यह प्रत्यक्षात्मक भ्रम कहलाता है । और प्रत्यक्ष तो बिना विषय और इन्द्रिय के संबन्ध के नहीं हो सकता । इस लिये यदि वहां किसी प्रकार का सर्प न मानो तो उस से और चक्षुरिन्द्रिय से संबन्ध न होगा और तव वहां सर्पविषयक प्रत्यक्षात्मक भ्रम न होगा । इस के उत्तर में हम कहते हैं कि रज्जुसर्पविषयक भ्रम प्रत्यक्षात्मक नहीं है पर अनुमित्यात्मक है । क्योंकि हमारे

इन्द्रिय केवल पदार्थों के रूप रस दीर्घत्व ह्रस्वत्वादि गुणोंही का ग्रहण कर सकते हैं और उन से आगे किसी वस्तु का ग्रहण करने का इन्द्रियों में सामर्थ्य नहीं है। इस लिये जब किसी को रज्जु पर सर्प का भ्रम होता है तो वह प्रत्यक्ष से केवल एक दीर्घाकार वस्तु को देखता है और इस बात में कुछ भ्रम नहीं है। फिर वह उस दीर्घाकार वस्तु पर सर्प की अनुमिति करता है। पर दीर्घाकार और सर्पत्व की कुछ व्याप्ति नहीं है क्योंकि सर्प के सिवाय और अनेक वस्तुओं में दीर्घाकार रहता है। इस लिये हेतु के असत् होने से अनुमिति भी भ्रमात्मक होती है। सो जब कि सर्प का भ्रम प्रत्यक्षात्मक नहीं है तो वहां सर्प की कल्पना करना आवश्यक नहीं॥

हे वेदान्तियो तुम भ्रम के विषय को प्रातिभासिक कहते हो। पर भ्रम का स्वरूप तो यह है कि विषय न होवे पर उस विषय का भासमात्र होवे। तो तुम विचारो कि भ्रम के स्वरूप की सिद्धि के लिये क्या क्या आवश्यक है। जब पहिले कहा कि विषय न होवे तो भ्रम में विषय का अभाव सिद्ध हुआ। अब क्या रहा केवल भास। पर इस भास के आगे कुछ नहीं है। तब तुम एक प्रातिभासिक विषय कहां से ले आते हो। क्या वह भासके पेट में से निकल

आता है। सो तुम यह निश्चय करके जानो कि जब किसी को रज्जु पर सर्प का भास होता है तो वहां केवल दोही पदार्थ हैं। एक तो वह लंबी रज्जु जो उस पुरुष के आगे पृथिवी पर पड़ी है और दूसरा सर्पविषयक भ्रम जो उस के आत्मा में उत्पन्न हुआ है। इन दो पदार्थों को छोड़ तीसरा कोई पदार्थ न है न था न होगा॥

पर वेदान्ती इस बात को सुनके अत्यन्त आश्चर्यित होते हैं और पूछते हैं कि क्या प्रातिभासिक विषय सर्वथा कुछ हैही नहीं। तब इस में और वंध्यापुत्र में क्या भेद रहा। तो हम उन से कहते हैं कि तुम को क्यों ऐसा मालूम होता है कि उस में और बंध्यापुत्र में कुछ भेद है। तब वे कहते हैं कि उन में तो बड़ा भेद है। क्योंकि प्रातिभासिकविषय कभी कभी मनुष्यों को भासता है पर बंध्यापुत्र कभी किसी को नहीं भासता। तो हम कहते हैं कि यह भेद केवल भासने और न भासने में है पर विषय में नहीं। और बंध्यापुत्र के न भासने का कारण तो स्पष्ट है कि जो कोई वंध्याशब्द का अर्थ जानता है उस को मालूम है कि वंध्या उसी को कहते हैं जिस को पुत्र नहीं है। तो यदि उस को बंध्यापुत्र के विषय में भ्रम न हो तो क्या आश्चर्य है। क्या जिस

को मालूम हो कि यह रज्जु है उस को कभी ऐसा भास होगा कि यह सर्प है। पर जिस को रज्जु मालूम नहीं है केवल उसी को उस पर सर्पत्व का भ्रम होगा। वैसेही जिस को वंध्याशब्दार्थ मालूम न हो उस को उस पर भी पुत्रवत्व का भ्रम होगा। ऐसी सहज बात में तुम क्यों सङ्कट में पड़ते हो॥

इस बात को सुनके वेदान्ती कहेंगे कि भला तुम ने यह सब कहके रज्जु सर्प शुक्ति रजतादिकों को तो सर्वथा असत ठहराया पर इस प्रकार से जगत के पदार्थों को न ठहरा सकोगे। क्योंकि उन से तो व्यवहार किया जाता है। और इसी लिये यद्यपि वे भी अज्ञानकल्पित हैं और उन को हमारे बड़े बड़े आचार्य प्रातिभासिकही समझते हैं तथापि बालकों के बोध के लिये उन को व्यावहारिक कहते हैं। यदि वें सर्वथा असत होते तो उन से व्यवहार कैसे होता। इस पर हम पूछते हैं कि क्या वह व्यवहार सत्य है कि असत्य है। तब वेदान्ती अपने शब्द के जाल में फंसके कहते हैं कि हां वह व्यवहार भी व्यावहारिक सत्य है यद्यपि पारमार्थिक सत्य नहीं। पर यदि हम पूछें कि क्या तुम उस व्यवहार को भी अज्ञानकल्पित नहीं कहते तो वे कहते हैं कि हां अज्ञानकल्पित तो है। तब हम को उन्हें यह

प्रश्न करना आवश्यक है कि तुम जो व्यवहार को और व्यावहारिकपदार्थों को अज्ञानकल्पित कहते हो इस में हम को बताओ कि अज्ञानकल्पित इस शब्द का क्या अर्थ है । क्या यह कि अमुक पदार्थ अज्ञान से भासता है अथवा यह कि अज्ञान नामें कोई एक पदार्थ है उस से वह उत्पन्न हुआ है । अर्थात् उस से ऐसा निकला है जैसे बीज में से अङ्कुर निकलता है । पर जब ऐसा प्रश्न वेदान्तियों से किया जाये तो उस का उत्तर भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है । यदि उस मनुष्य के मन में जिस से प्रश्न किया गया है उस समय स्वाभाविक विवेक का कोई किरण चमक रहा हो तो वह झटपट यही उत्तर दे बैठेगा कि अज्ञानकल्पित से तात्पर्य यही है कि अज्ञान से भासता है । पर यदि और प्रकार के मनुष्य से काम पड़े जिस की बुद्धि वेदान्त के शब्दों के जंगल में दूर तक भटक गई हो तो कुछ आश्चर्य्य नहीं कि उस को अज्ञान सांख्य की प्रकृति के ऐसा जग-दुपादानभूत जड़द्रव्यरूप मालूम पड़े और वह कह बैठे कि हां अज्ञानकल्पित का अर्थ तो यही है कि वह अज्ञान से अर्थात् माया से उत्पन्न हुआ है क्योंकि माया जगत का उपादानकारण है। तो ऐसे से

हम कहेंगे कि भाई यदि तुम्हारी वह माया अर्थात् अज्ञान भ्रम नहीं है पर सांख्य की प्रकृति के समान जगदुपादानभूत कोई पदार्थ है और यदि अज्ञान-कल्पित का अर्थ यही है कि उस माया से निकला हुआ पदार्थ जैसे सांख्य के महत्तत्वादिक प्रकृति से निकले हैं तो तुम्हारे इस अज्ञान की और अज्ञान-कल्पित पदार्थों की सत्ता में और ब्रह्म की सत्ता में भेद क्या रहा। तब तुम व्यवहार को और व्याव-हारिक पदार्थों को पारमार्थिक सत्यही क्यों नहीं कहते। यदि तुम कहोगे कि जो पदार्थ माया से निकले हैं उन को हमारी बोली में पारमार्थिक नहीं कहते परन्तु व्यावहारिक कहते हैं और केवल ब्रह्म को पारमार्थिक कहते हैं। तो हम कहेंगे कि यह तो केवल उन पदार्थों की जाति में भेद ठहरा पर उन की सत्ता में अर्थात् होने में कुछ भेद नहीं तब तुम्हारी दो प्रकार की सत्ता कहां से सिद्ध हुई। जैसे नैयायिक लोग कितने पदार्थों को मूर्त्त कहते हैं कितनों को अमूर्त्त। फिर कितनों को पार्थिव कहते हैं कितनोंको तैजस इत्यादि। तो क्या ऐसा कहने से उन पदार्थों की सत्ता में कुछ भेद हुआ। इसी प्रकार से यद्यपि तुम ने एक पदार्थ का नाम पारमार्थिक रक्खा और दूसरे का नाम व्यावहारिक तो क्या

इस से उन के होने में कुछ भेद ठहरेगा । वे दोनों पदार्थ सचमुच हैं । और यदि दोनों सचमुच हैं तब अद्वैत कहां रहा । क्या केवल दो पदार्थों को दो प्रकार के ठहराने से अद्वैत सिद्ध होगा । तब तो नैयायिक भी अद्वैती ठहरेंगे । क्योंकि वे भी ईश्वर को दूसरे सब पदार्थों से बहुत बातों में विलक्षण समझते हैं । फिर अज्ञानशब्द का अर्थ यदि भ्रम नहीं है तो इस संसार की निवृत्तिज्ञान से कैसे हो-गी । क्योंकि ज्ञान से तो केवल उस की निवृत्ति होती है जो भ्रम से भासता है । पर यदि जैसे घट मृत्तिका से उत्पन्न होता है वैसेही यह जगत भी अज्ञान नामक किसी पदार्थ से निकला है तो ज्ञान कभी इस का निवर्त्तक न होगा । रज्जु के ज्ञान से रज्जुसर्प की निवृत्ति तो होती है पर वह कौनसा ज्ञान है जो उस घट को निवृत्त कर सकेगा जो मेरे सामने धरा है । हां यदि एक लाठी लेके उस को फोड़ो तो अलबत्ता वह निवृत्त होगा पर ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता । और जैसा यह संसार ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता वैसेही वह संसार का उपादानकारणभूत तुम्हारा माया नामक पदार्थ भी यदि भ्रम रूप नहीं है तो ज्ञान से निवृत्त न होगा । और तब जीव का संसारी और बद्ध होना

भी सत्य ठहरा इस लिये जीव भी ब्रह्म नहीं हो सकता । सो देखो जब तुम अज्ञानशब्द के अर्थ को उलट देते हो तब तुम्हारी सब बातें उलट जाती हैं । पर तुम यह जानो कि प्रथमतः वेदान्तियों का तात्पर्य अज्ञानशब्द से भ्रमही में था और अज्ञान-कल्पित से भी वे प्रथमतः ऐसेही पदार्थ को समझते थे जो अज्ञान से भासता है । पर वे पीछे से कुतर्कों के जाल में फंसके कुछ और और प्रकार के अर्थ समझने लगे । क्योंकि जैसा उन शब्दों का अर्थ हम ने बताया वैसा यदि उन के मन में न होता तो जगत का मिथ्या होना और अद्वैत और ज्ञान से अज्ञान का बाध होना इत्यादि बातें कभी उन के मन में न आतीं । सो अज्ञानकल्पित का अर्थ यदि यही है कि अज्ञान से भासमान तो अज्ञानकल्पित का होना कहां से सिद्ध होगा । क्योंकि जो नहीं है पर भासता है उसी को अज्ञान से भासमान कहते हैं । क्योंकि जो है और भासता है वह तो अज्ञान से भासमान नहीं पर ज्ञानही से भासमान है । और यदि कोई पदार्थ नहीं है पर केवल अज्ञान से भासता है तो उस में सत्ता कहां से आवेगी । क्या वह अज्ञान उस को ऐसा जनेगा जैसे सर्पिणी बच्चों को ज़नती है । सो जैसे हम ने प्रातिभासिक का विचार

करते समय कहा था तैसाही अब फिर कहते हैं कि जब तुम कहते हो कि नहीं है पर भासता है तो इस में पदार्थ का न होना और केवल भास का होना सिद्ध होता है पर उस भास से आगे और कोई विलक्षण पदार्थ नहीं है। तब तुम्हारे व्यावहारिक नामें एक विलक्षण पदार्थ की सिद्धि कहां से होगी। और जैसे तुम व्यावहारिक पदार्थ को अज्ञानकल्पित कहते हो तैसे तुम आपही व्यवहार को भी अज्ञानकल्पित कहते हो तो इस से यही ठहरा कि वह व्यवहार भी असत्य है। तब ऐसे असत्य और अज्ञान से भासमान व्यवहार के लिये उन व्यवह्रियमाण पदार्थों में किसी प्रकार की सत्यता मानने की कौन आवश्यकता है। क्या स्वप्न में कोई घोड़े पर चढ़ा था इस कारण से उस घोड़े में किसी प्रकार की सत्यता मानना आवश्यक है। सो जानो कि तुम को जगत के पदार्थों को शुक्तिरजत और वंध्यापुत्र के समान ही सर्वथा असत् समझना चाहिये॥

अब तुम्हारी समझके समान इन तीनों पदार्थों में से किसी का सदा भास होने और किसी का कदाचित भास होने और किसी का सर्वथा भास न होने के कारण से जो भेद है सो केवल भासही का और भास के होने और न होने का भेद ठहरा। जैसे

तुम्हारे मत के अनुसार जगत के पदार्थों का सदा सब अज्ञानियों को भास होता है और शुक्तिरजत का कभी किसी को और वंध्यापुत्र का किसी को भी नहीं। तथापि इस कारण से उन पदार्थों में कुछ भेद न ठहराओ। पर हम ने पूर्वाध्याय में कहा कि हम को एक दूसरे को समझने के लिये असत्पदार्थ को भी नाम देने पड़ते हैं। सो यदि एक प्रकार के असत्यपदार्थ के भास में दूसरे प्रकारके असत्यपदार्थ के भास से कुछ विशेष हो तो इस भास के विशेष के कारण से उन असत्यपदार्थों को भी यदि भिन्न भिन्न नाम से पुकारो तथापि कुछ चिन्ता नहीं। इसलिये तुम एक असत्यपदार्थ का नाम व्यावहारिक और दूसरे का नाम प्रातिभासिक रखो तो भी हम कुछ दोष न लगावेंगे। पर तुम जो वड़ा अन्धेर करते हो सो यह है कि जव तुम ने व्यावहारिक और प्रातिभासिक ऐसे शब्द मुंह से निकाले तव तुम को एक व्यावहारिक और एक प्रातिभासिक ऐसी दो प्रकार की सत्ता देख पड़ने लगती है॥

अव हम फिर संक्षेप में तुम को सत्ता का तत्व वताने चाहते हैं और यह दिखाने चाहते हैं कि तुम्हारी किस वात में भूल है। जव तुम कहते हो कि पारमार्थिक पदार्थ है और व्यावहारिक पदार्थ है

और प्रातिभासिक पदार्थ है तो तुम अपने मन में यह विचारो कि जब मैं ने तीनों प्रकार के पदार्थों को है कहा तो तीनों का एकही प्रकार का होना मान लिया। तब जो मैं उन के होने को भिन्न भिन्न प्रकार का कहता था सो बात कहां रही। पर यदि तुम्हारा मन भीतर से कहे कि वे पदार्थही भिन्न भिन्न प्रकार के हैं अर्थात् एक पारमार्थिक है एक व्यावहारिक है और एक प्रातिभासिक है इसलिये उन का होना भी भिन्न भिन्न प्रकार का ठहरता है। तो हम कहते हैं कि तुम निश्चय करो कि इस में भूल है। क्योंकि यदि वे पदार्थ भिन्न भिन्न प्रकारके ठहरे तो यह केवल उन पदार्थों की जाति में भेद ठहरा पर उन के होने में नहीं। जैसा हम कह चुके कि नैयायिक कितने पदार्थों को मूर्त्त कहते हैं और कितनों को अमूर्त्त पर क्या इस से उन के होने में कुछ भेद ठहरता है। वैसेही इन के होने में भी भेद नहीं हो सकता। क्योंकि यदि उस में भेद होता तो उस भेद का कारण भी मन में आता। क्योंकि जब हम खारे पानी को मीठे पानी से भिन्न कहते हैं तो उस भेद के कारण को मन में भी ला सकते हैं और बता भी सकते हैं। पर तुम जब पारमार्थिकादिक तीनों प्रकार के पदार्थों को है कहते हो तो क्या

उन के होने में भेद का कोई कारण तुम्हारे मन में आता है । यह मत कहो कि कोई पदार्थों में यद्यपि सचमुच भेद रहता है तथापि हम उसके कारण को नहीं जानते वैसेही पारमार्थिकादिक पदार्थों के होने में भी जो भेद है उस का कोई ऐसा सूक्ष्म कारण होगा कि जिस को हम नहीं जान सकते । क्योंकि तुम को केवल उन्हीं पदार्थों के भेद का कारण मालूम न होगा जिन पदार्थों को तुम जानते न होगे । पर जब तुम को किसी पदार्थ के विषय में प्रत्यक्ष से अनुमान से अथवा आप्तवचन से यह निश्चय हुआ कि अमुक पदार्थ है तो तुम उस के होने को जान चुके । और यद्यपि तुमको उस पदार्थ का स्वरूप मालूम न हो तथापि यह मत कहो कि हम को उस का होना मालूम नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान आप्तवचनादि प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से जो तुम को यह निश्चय हुआ है कि वह पदार्थ है तो वही तुम्हारा उस के होने को जानना है और उस के जानने में कुछ बाकी नहीं है। इसी प्रकार से यदि तुम को यह निश्चय हो कि पारमार्थिक पदार्थ है और व्यावहारिक है और प्रातिभासिक है तो तुम उन के होने को जान चुके तब यदि उस होने में कुछ भेद होता तो उस का कारण

अवश्य तुम को मालूम पड़ता । पर यदि कोई कारण नहीं मालूम पड़ता पर तीनों को है है कहने में एकही प्रकार का होना भासता है तो तुम तीन प्रकार का होना कहां से ले आते हो ॥

यदि यहां लों तुम हमारी बात समझ चुके हो तो हम और भी कुछ तुम से कहेंगे । जब तुम ने कहा कि हम पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों में भिन्न भिन्न प्रकार का होना इस लिये मानते हैं कि वे पदार्थही भिन्न भिन्न प्रकार के हैं तब हम ने केवल तुम्हारे समझाने के लिये यह कहा था कि यदि वे पदार्थ तीन प्रकार के हैं तो यह उन की जाति में भेद ठहरेगा परन्तु उन के होने में नहीं इत्यादि । पर अब हम तुम से यह कहते हैं कि ऐसे तीन प्रकार के पदार्थोंही को मान्ना उचित नहीं । क्योंकि उन को तीन प्रकार के कहना केवल उन के होने की भिन्नता के कारण से है । यह उन का त्रिप्रकारत्व किसी और वैलक्षण्य के कारण से नहीं जैसा नैयायिकों के मूर्त्त और अमूर्त्त पदार्थों का द्विप्रकारत्व है । सो जब कि होने में कुछ भेद न ठहरा तो उस कारण से तीन प्रकार के पदार्थ कहां से आवेंगे ॥

सो अब हम कहते हैं कि यद्यपि तुम सारे जगत

को अज्ञानकल्पित कहके असत्य ठहराओ तथापि उस अज्ञान को असत्य नहीं कह सकते । पर तुम जो उस अज्ञान को भी असत्य ठहराने के लिये उस को अज्ञान-कल्पित कहते हो तो यह क्यों नहीं विचारते कि यदि वह अज्ञान असत्य है अर्थात कुछ हैही नहीं तो वह अपनी कल्पना कहां से कर सकेगा। तब इस कठिनता के दूर करने के लिये तुम कहते हो कि यद्यपि अज्ञान अज्ञानकल्पित है और इस लिये पारमार्थिक सत्य नहीं है तथापि वह ऐसा नहीं कि सर्वथा कुछ नहीं क्योंकि वह प्रातिभासिक है इस में तुम्हारी ऐसी भूल है कि कुछ कहा नहीं जाता। क्योंकि जो पदार्थ अज्ञान-कल्पित है और पारमार्थिक सत्य नहीं वह सर्वथा कुछ हैही नहीं तब वह क्या किसी की कल्पना कर सकेगा॥

कभी कभी वेदान्ती कहते हैं कि जो पदार्थ केवल भ्रमकल्पित और असत्य है सो भी कार्य्य कर सकता है। जैसे स्वप्न में की देखी हुई बातें इष्ट अथवा अनिष्ट की सूचना करती हैं। पर हम कहते हैं कि यहां भी वे लोग पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को न विचारने से ऐसी भूल करते हैं। क्योंकि स्वप्न में के देखे हुये पदार्थ इष्टानिष्ट की सूचना नहीं करते वे तो कुछ हैही नहीं। पर वह स्वप्नही इष्टानिष्ट का सूचक होता है और स्वप्न तो सत्य है। क्योंकि

भ्रम का विषय झूठा है पर भ्रम सत्य है । वैसेही यदि रज्जु पर सर्प का भ्रम होने से कोई डर जाये तो यह न समझना चाहिये कि वह सर्प उस डर का उत्पादक है । वह तो कुछ हैही नहीं न कभी था न है न होगा । पर उस मनुष्य का भ्रमही उस भय का उत्पादक है ॥

सो इन सब बातों से यह सिद्ध हुआ कि तुम्हारी समझ में हमारा जगत को सत्य करके समझना और अपने को जीव करके समझना यदि अज्ञान से है तो वह अज्ञान झूठा नहीं हो सकता पर सत्य है और इस लिये हम सचमुच अज्ञानी भी हैं तब हम परमात्मा नहीं हो सकते ॥

वैसेही हमारा पापी और मलिन होना भी सत्य है। क्योंकि जो जिस बात को अधर्म्म समझता है उस का उस को चाहना और करना पाप है। और हम तुम कई बातों को अधर्म्म जानते भी हैं और उन को चाहते और करते भी हैं । और हम ने सांख्य शास्त्र के विचार में दिखाया है कि हमारा ज्ञान इच्छा कर्तृत्व का अनुभव भ्रमात्मक नहीं हो सकता । सो जब कि हमारे जीव पापी और मलिन हैं तो इस कारण से भी वे परमात्मा नहीं हो सकते क्योंकि परमात्मा सदा शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव नित्यानन्द और निर्विकार है ॥

इस विषय में हम एक बात और भी कहने चाहते हैं जिस को कहके इस अध्याय को समाप्त करेंगे । जो बातें हम ने सांख्य शास्त्र के विचार में कही थीं केवल उन्हीं से हम वेदान्तियों को भी उत्तर दे सकते हैं । हम ने सांख्य के विचार में कहा था कि हमारा जो अपने ज्ञान इच्छादिकों के विषय में अनुभव है सो भ्रमात्मक नहीं हो सकता । इस से स्पष्ट है कि यद्यपि हम को और विषयों में भ्रम हो तथापि उस भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में जो हमारा प्रत्यक्षानुभव है सो भ्रमात्मक नहीं हो सकता । इस लिये वह भ्रम जो उस अनुभव का विषय है मिथ्या नहीं हो सकता । सो यदि हम वेदान्तियों की इस बात को मान भी लें कि हमारा जगत को सत्य करके मान्ना भ्रम है तथापि वह भ्रम मिथ्या नहीं हो सकता । क्योंकि हम को तो उस ज्ञान के विषय में जिसे वेदान्ति भ्रमात्मक कहते हैं ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है कि हम को ऐसा ज्ञान होता है कि जगत सत्य है । सो वेदान्तियों के कहने से यदि हमारा वह ज्ञान भ्रम भी हो तथापि उस की सत्यता में कुछ सन्देह नहीं । इस प्रकार से यदि हम सचमुच भ्रान्त ठहरे तो परमात्मा नहीं हो सकते । सो यद्यपि हम यह उत्तर वेदान्तियों को दे सकते

हैं तथापि जो जो तर्क वे अज्ञान के मिथ्या ठहराने में ले आते हैं उन की भूल को भी खोल खोलके दिखाना आवश्यक है। क्योंकि हम ने कहा है कि उन्हीं वातों में वेदान्ति अपने मत का सम्पूर्ण वल समझते हैं। फिर सत्ता के विषय में भी जो उन की भूल है उस को दूर करना भी वहुत आवश्यक है क्योंकि यह भूल कई वातों में उन को हानिकर है इस लिये इस विषय में जो हम ने परिश्रम किया है उस को व्यर्थ न समझना चाहिये॥

---

११ ग्यारहवां अध्याय।

जिस में वेदान्तियों की मुक्ति की परीक्षा है और यह दिखाया है कि वेदान्त मत आस्तिक मत कहलाने के योग्य नहीं है और ईश्वर ने सब मनुष्यों के हृदय में जो एक विवेकशक्ति रक्खी है उस के प्रभाव और उपयोग का संक्षेप में वर्णन है॥

जब यह वात खण्डित हो चुकी है कि जीव ब्रह्म से अभिन्न है तो यह वात भी आप से आप खण्डित भई कि जब जीव को ज्ञान उपजेगा कि मैं ब्रह्म हूं तब सब भ्रम से छूटके ब्रह्म वनकर मुक्त होगा। क्योंकि जब जीव ब्रह्म हैही नहीं तो यदि

वह यह जाने कि मैं ब्रह्म हूं तो यह ज्ञान नहीं पर महा अज्ञान है। और इस के हेतु से मुक्त होने के बदले वह और भी अधिक दंड के योग्य ठहरेगा॥

फिर वेदान्तियों की मुक्ति भी न्यायादिकों की मुक्ति के सदृशही है। हम ने न्यायादि दर्शनों के विचार में कहा है कि उन की मुक्ति यही है कि किसी प्रकार से सब दुःखों से छूटके पाषाण के समान सब भान रहित हो जाना परन्तु उस में कुछ सुख का अनुभव नहीं है। वैसीही वेदान्तियों की मुक्ति की भी दशा है। यद्यपि वेदान्तियों की भाषा से ऐसा जान पड़ता है कि मानो उन की मुक्ति में कुछ आनन्द है। क्योंकि वे ब्रह्म को सत चित आनन्द रूप कहते हैं। और उन के मत से मुक्त होना तो ब्रह्म बन जाना है इस लिये वे कहेंगे कि मुक्तिदशामें आनन्द की प्राप्ति क्योंकर न होगी। पर हम दिखा चुके हैं कि उन का ब्रह्म को ज्ञान-रूप और आनन्दरूप कहना केवल नामही मात्र है। वह ज्ञानरूप तो है परन्तु किसी को जानता नहीं और आनन्दरूप है पर आनन्द का भोग नहीं कर सकता। जब जीव ऐसी दशा को प्राप्त करेगा तब उस को आनन्द की कौन आशा है॥

यदि हम इस विषय में सूक्ष्मविचार करें तो

वेदान्तियों की मुक्ति नाशरूपी ठहरती है। जीव और ब्रह्म के विषय में वेदान्तियों के जो सिद्धान्त हैं सो ऐसे अद्भुत हैं कि उन में एक बात की दूसरी बात से कुछ संगति नहीं लग सकती। पर हम उन्हीं असंगत बातों को लेकर कहते हैं कि उन के समान जीव का मुक्त होना केवल नाशरूप ठहरता है। क्योंकि वे कहते हैं कि ब्रह्म का जीव बन्ना सत्य नहीं है। तो यह मिथ्या जीव कभी सचमुच ब्रह्म नहीं बन सकता। क्योंकि असत्य पदार्थ सत्य नहीं हो सकता परन्तु जब लों भ्रान्ति रहती है तब लों वह भासमान होता है और जब ज्ञान उपजा तब विलाय जाता है। इसी प्रकार से विचारे जीव को ज्ञान प्राप्त होने से इतनाही लाभ होगा कि वह आपही बिलाय जायगा॥

यहां लों हम ने वेदान्त मत के मुख्य २ सिद्धान्तों की परीक्षा किई। अब हम सब विचारवान पुरुषों से पूछते हैं कि थोड़ासा इस मत की बातों को बिचारके कहो तो कि क्या यह मत आस्तिक मत कहलाने के योग्य है। यद्यपि इस मत ने ऊपर से आस्तिकता का भेष पकड़ा है पर हमारी समझ में इस में और नास्तिक मत में कुछ भेद नहीं है॥

आस्तिक मत की मुख्य बात तो ईश्वर का मान्ना है पर उस बात को इस मत में सर्वथा खण्डित किया है। हम दिखा चुके हैं कि जिस ब्रह्म को वेदान्ती मानते हैं वह न तो जगत का कर्त्ता है न पालने-वाला है न प्रभु है न उस से और जगत से कुछ सम्बन्ध है। ऐसे पदार्थ को वे यद्यपि ब्रह्म कहें अथवा परमात्मा कहें तथापि उस से वे लोग आ-स्तिक न ठहरेंगे। क्योंकि किसी को बड़ा नाम देने से वह बड़ा नहीं होता पर बड़े कार्य्य और गुण जिस में हैं वही बड़ा ठहरता है। ईश्वर किस लिये सभों से बड़ा कहलाता है। इसी लिये कि वह सभों का कर्त्ता और नियन्ता और प्रभु और सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ और सर्वोत्तम और मनोहर गुणों की खानि है। फिर उस का आदर करना और उस पर प्रेम करना किस लिये हम को उचित और आवश्यक ठहरता है। इसी लिये कि उस ने हम को उत्पन्न किया और हम पर उस का स्वत्व है और वह सदा हमारे उपकार करता है और आप स्वभावतः अपने रमणीय गुणों के कारण से भी प्रीति करने के योग्य है। पर जिस मत में ये बातें नहीं हैं उस में न ईश्वर है न उस की भक्ति है। फिर यद्यपि उस में अपनी मन भावना से एक

अद्भुत पदार्थ को ठहराके उस को ब्रह्म और परमात्मा ऐसे ऐसे नाम रखे हों तो क्या लाभ है ॥

फिर जैसे ईश्वर और उस की भक्ति का होना आस्तिक मत में आवश्यक है वैसेही पाप और पुण्य के विवेक का होना भी आवश्यक है। पर वेदान्त मत तो पाप पुण्य को भी जड़ से उखाड़ता है। हां व्यवहार दशा में तो पाप पुण्य हैं परन्तु सचमुच वे कुछ नहीं हैं। इस लिये अज्ञानी पाप से डरे और धर्म्म का पीछा करे तो करे पर ज्ञानी को उन दोनों पर हंसना चाहिये। और उस को न पाप से कुछ डर है न धर्म्म से कुछ प्रयोजन है। तो कहो कि ऐसे मत में और नास्तिक मत में क्या भेद है। क्या ऐसे मत से किसी का कुछ कल्याण होगा ॥

पर इस विषय में एक बात को ध्यान में रखना चाहिये। यद्यपि वेदान्ती अपने असत् तर्कों से ईश्वर और जगत् आदि को झूठे ठहराने चाहते हैं तथापि उन बस्तुन की सत्यता जो स्वतः सिद्ध और स्वतः प्रकाशमान है सो उन की बुद्धि से सर्वथा दूर नहीं हो सक्ती। इस लिये हम दिखा चुके हैं कि यद्यपि वेदान्ती ईश्वर और जगत आदि को झूठे ठहराने चाहते हैं तथापि वे उन को सत्य से देख पड़ते हैं। और इसी बिरोध के दूर करने के लिये वे अनेक

प्रकार की सत्ता का मत निकालके ओर यह कहके कि उन को जो हम सत्य समझते हैं सो पारमार्थिक दशा में नहीं पर व्यावहारिक दशा में है वे अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं । सो हम ने जो कहा कि वेदान्त मत में ईश्वर ओर धर्म्माधर्म्म के विवेक आदिक आस्तिक मत की मुख्य वातें नहीं हैं इस लिये वह नास्तिक मत कहलाने के योग्य है सो वात वेदान्तियों की समझ के समान नहीं है परन्तु उन के मत के मुख्य ओर असल सिद्धान्तों के अनुसार से सिद्ध होती है । वेदान्ती तो अपने मन में ऐसाही समझ रहे हैं कि हमारे मत में ईश्वर की भक्ति ओर धर्म्माधर्म्म का विवेक इत्यादिक सब बातें हैं ओर लोगों को भी ऐसाही सिखाते हैं । यह तो उन की स्पष्ट भूल है । पर वेदान्तियों के ऐसी भूल में पड़ने के ओर विरुद्ध वातों को मानने के कारण से यह गुण निकलता है कि उन का उपदेश मनुष्यों को उतना हानिकर नहीं होता जितना उन लोगों का होता है जो खुला खुली नास्तिकता की वातें सिखाते हैं । तथापि जिस मत की मुख्य ओर मूल वातें सचमुच आस्तिकता की विरोधी हैं उस मत के माननेवाले यद्यपि इस विरोध को स्पष्टता से न देखते हों तथापि वे वातें अपना स्वाभाविक दुर्गुण

कहां से हो सकेंगी । सो यह बात निश्चित है कि वेदान्त मत सर्वथा मनुष्यों को हानिकरही होगा । किसी को थोड़ा किसी को वहुत पर किसी के स्वभाव को सुधारना यह बात इस मत से अनहोनी है ॥

बुद्धि कहती है कि सत्य मत वही है जो मनुष्यों के स्वभाव को सुधारे । क्योंकि इसी बात की हम सभोंको आवश्यकता है । हम आगे कह चुके हैं कि जो लोग मनुष्य की दृष्टि में अत्यन्त सुस्वभाव देख पड़ते हैं सो भी ईश्वर की परम पवित्र और सर्वदर्शी दृष्टि में पापी और अत्यन्त विगड़े हुए ठहरते हैं । इस लिये उन को भी सत्य मतरूपी औषध की आवश्यकता है । सव मनुष्यों की ऐसी दुर्दशा हो रही है कि उन के मन में जैसा ईश्वर का पूर्ण और शुद्ध प्रेम वसना चाहिये वैसा नहीं वसता । क्योंकि इस प्रकार के पूर्ण और शुद्ध प्रेमका यह एक लक्षण है कि जिस में वह वसता है वह मनुष्य कभी मन से वाचा से अथवा काया से एक पाप भी न करेगा । क्योंकि पाप करना ईश्वर की आज्ञा का भङ्ग करना है अर्थात जो वात उस को अनिष्ट है उसी को करना है । तो क्या यह हो सक्ता है कि जो कोई ईश्वर पर पूर्ण और शुद्ध प्रेम रखे सो ऐसी बात करे कि जो उस को अनिष्ट है । सो ऐसा मनुष्य

करे कि उस का स्वभाव सुधरके पवित्र हो जाय । और ईश्वरभक्ति दया सत्यता नम्रतादिक गुण उस में उत्पन्न होवें । बुद्धि कहती है कि ऐसाही होना मनुष्य को उचित है । इसी में उस का इस लोक और पर लोक का कल्याण है । और जो मत मनुष्य को ऐसा बनावेगा सोई ईश्वरीय मत है । पर इस के उलटे मनुष्य को जो कि आपही बिगड़ा है यह सिखाना कि ईश्वर मिथ्या है तू तो आपही ब्रह्म है पाप पुण्य और उस के फल सब मिथ्या हैं इत्यादि यह तो मानो एक उन्मत्त मनुष्य को मदिरा पिलाना है । सो हे प्यारो ऐसे मत को सत्य मत समझो ॥

अब इस विषय में एक और बात हम को कहना है जिस को कहके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे । वह बात यह है कि परमेश्वर ने मनुष्य को एक विवेकशक्ति दिई है जो उस को बतलाती है कि एक जगत्कर्त्ता सर्वशक्तिमान ईश्वर है और धर्म का काम अच्छा है और अधर्म्म बुरा है और उन के सत और असत फल भी हैं और मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की भक्ति करें और उस के प्रसाद को प्राप्त करें और उसी के प्रसाद में अनन्त कल्याण है । यह विवेकशक्ति प्रायः सब मनुष्यों में

देखो यही दशा वेदान्तियों की है । इस में कुछ सन्देह नहीं कि वेदान्त के जो असल सिद्धान्त हैं सो सम्पूर्ण आस्तिकता और सदाचार की शिक्षा को जड़ से नाश करनेवाले हैं । उन के अनुसार होही नहीं सकता कि कोई ईश्वर को माने और उस की भक्ति करे और पाप को बुरा और धर्म को भला समझे तथापि देखो कैसे आश्चर्य्य की बात है कि कितने वेदान्ती उन की जिन को वे अपनी समझ में ईश्वर मानते हैं भक्ति करने में अत्यन्त लौलीन रहते हैं । पर यह तो स्पष्ट है कि वे जो ऐसा करते हैं सो अपने मत के मूलसिद्धान्तों के समान नहीं वरन उस विवेकशक्ति की प्रेरणा से जो ईश्वर ने उन के आत्मा में रक्खी है करते हैं। वैसेही उसी विवेक की प्रेरणा से वेदान्ती इस बात को भी मानते हैं कि ज्ञान उपजने मनुष्य को न चाहिये कि यथेष्टाचरण करे अर्थात् ज्ञानी को भी न चाहिये कि दुराचार करे । फिर और भी ऐसी कितनी बातें हैं जो वेदान्ती केवल उसी विवेक के सिखाने से मानते हैं । जैसे जब कि वेदान्तियों ने परमात्मा और जीव को एक बना डाला तो उन को उस परमात्मा को विकारी और मलिन कहने में क्या डर है । पर देखो तिस पर भी वे ऐसा कहने में शङ्कित होते हैं

पड़ते हैं कि स्पष्ट यह जान पड़ता है कि परमेश्वर यदि इस अन्तर्विवेक की ज्योति को हम में इतनी भी न रहने देता तो उन सब मिथ्या मतों की शिक्षाओं से मनुष्य लोग क्या जानिये कहां लों भ्रष्टता और अव्यवस्था के गहिराओं में डूब जाते। पर अब लों जो कुछ बचे हैं सो इसी अन्तर्ज्योति के प्रभाव से बचे हैं। और परमेश्वर के सत्य मत के प्रगट होने लों मानो यही ज्योति मनुष्यों की रक्षक और मार्गदर्शक रहती है। पर हम कह चुके हैं कि यह विवेकज्योति मनुष्यों में अब पूर्ण और सर्वथा शुद्ध नहीं रही है परन्तु पाप के कारण से बहुत कुछ मलिन हो गई है। क्योंकि यदि वह पूर्ण और शुद्ध होती तो मनुष्यों को मिथ्या मतों पर बिश्वासही करने न देती। इस लिये यह विवेकशक्ति हम को ईश्वर की ठीक पहिचान और हमारे निस्तार के उपाय का शुद्ध ज्ञान नहीं दे सकती और न हमारे स्वभाव को जैसा चाहिये वैसा शुद्ध कर सकती है। ये बातें तो ईश्वर के सत्य मतही से प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु जब परमेश्वर कृपा करके अपना सत्य मत हम को देवे तब उसके परखने और पहिचान्ने में यही विवेकशक्ति बहुत काम आती है। क्योंकि जब लों मनुष्य की ईश्वर के सत्य मत से भेंट नहीं

ईश्वर से हमारी यही प्रार्थना है कि वह आप पर ऐसी कृपा करे कि आप अपने अन्तर्विवेक की ज्योति से उस के सत्य मत को सरल मन होके परखें और उस की पहिचान और अपने निस्तार के मार्ग के ज्ञान को प्राप्त करें ॥

यहां षड्दर्शन दर्पण का तीसरा भाग समाप्त भया। और षड्दर्शन नामक ग्रन्थ भी समाप्त भया ॥